॥ ओ३म् ॥

बलिदान-जयन्ती-स्मृति-ग्रन्थ

आर्य समाज के समस्त हुतात्माओं
की
पुण्य स्मृति में

प्रकाशक
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब (जालन्धर)

लेखक महानुभाव

आर्यसमाज और बलिदान पृष्ठ १ से ४०

श्री आचार्य प्रियव्रत जी विद्यावाचस्पति गुरुकुल कांगड़ी

महर्षिदयानन्द सरस्वती पृष्ठ ४१ से ६०

कु० शान्ता एम०ए० प्रिंसिपल आर्य-गर्ल्ज़ कालेज अम्बालाछावनी

आर्यसमाज के अन्य शहीद इत्यादि

आयसमाज के महाधन से संगृहित

आर्यसमाज क्या चाहता है?

श्री मदनमोहन जी, विद्यासागर हैदराबाद

❀ ओ३म् ❀

बलिदान-जयन्ती-स्मृति-ग्रन्थ

आर्य समाज के समस्त हुतात्माओं
की
पुण्य स्मृति में

प्रकाशक
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब (जालन्धर)

प्रकाशक—
मन्त्री
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
गुरुदत्त भवन जालन्धर

मूल्य ४ रुपये ५० नये पैसे
दयानन्दाब्द १३७
अक्टूबर १९६२ ई०
प्रथम वार २०००।

मुद्रक—
आर्य प्रिंटिंग प्रैस अम्बाला छावनी
[illegible] शी प्रिंटिंग प्रैस अम्बाला छावनी

अपनी–बात

जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने ८ से १४ अक्टूबर १९६२ तक आर्य समाज के समस्त शहीदों की पुण्यस्मृति में "बलिदान-जयन्ती-महोत्सव" मनाने का निश्चय किया तभी मेरे मन में यह भाव उठा था कि इस अवसर पर एक ऐसे स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन होना चाहिए, जिससे शहीदों की स्मृति सजीव हो सके और जिस में धर्म-वीरों की जीवन-गाथा पढ़ हम में भी बलिदान-भावना अंकुरित हो।

जैसी इच्छा थी यह स्मृति-ग्रंथ उसके अनुरूप नहीं बन पाया—फिर भी जैसा बना प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें अनेक लेखकों के ग्रंथों से सामग्री ली गई है। हम उसके लिए उनके आभारी हैं।

यदि हमारे इस प्रयत्न से किसी एक के हृदय में भी "बलिदान" के भाव जागृत हुए तो हम समझेंगे, प्रयत्न सफल हुआ।

धर्म वीरों का जीवन प्रकाश का वह अजस्र स्रोत है जिसकी धारा न कभी सुप्त होती है न लुप्त उन महान् नर पुंगवों की स्मृति में शतशः प्रणाम !

काश, कि हम उनसे प्रेरणा ले सकते ?

हरिप्रकाश
मन्त्री
बलिदान-जयन्ती-समारोह-समिति
अम्बाला छावनी।

ओ३म् अस्माकमिन्द्रः स्मृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्तु जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मा उ देवा अवता हवेषु ॥

सामवेद अध्याय २२ । खण्ड ४ । मन्त्र २ ।

वीरों के बल से विजयी हम, फहराएँ जय कीर्ति ललाम ।
देव हमारे धरती तल पर, प्राण पसारें जय वरदान ।
अमर शहीदों के पथ पर चल, शान्ति मन्त्र का करें प्रसार ।
शान्ति हमें दो भगवन ऐसी, वेद धर्म का हो विस्तार ॥

समर्पण !

श्रद्धा से, आदर से, अन्तर की समस्त पुण्य भावनाओं
के साथ यह 'बलिदान-जयन्ती-स्मृति-ग्रन्थ' उन
ज्ञात-अज्ञात दिवंगत महान् आत्माओं की
पावन स्मृति में अर्पित है, जिन्होंने
सत्य धर्म प्रसार के लिये
प्राण दिए, पर प्रण
नहीं छोड़ा !

विषय-सूची

आर्यसमाज और बलिदान

आर्यसमाज और बलिदान !

आर्यसमाज एक धर्म-प्रचारक संस्था है। धर्म स्वभावतः मनुष्य में आत्म-त्याग की भावना को उत्पन्न करता है। धरती के सब मनुष्यों और अन्य सब प्राणियों को परमात्मा ने उत्पन्न किया है। परमात्मा हम सब का उत्पादक पिता और माता है। हम सब उस के पुत्र हैं। इस लिये हम सब आपस में भाई-भाई हैं। अपनी लौकिक माता के पेट से उत्पन्न होने वाले भाई को जिस प्रकार हम अपना भाई समझते हैं, उस के सुख को जिस प्रकार अपना सुख और उस के दुःख को जिस प्रकार अपना दुःख समझते हैं उसी प्रकार हमें संसार के सब मनुष्यों और प्राणियों को उस जगज्जननी की सन्तान होने के कारण अपना भाई समझना चाहिये। और उन के सुख को अपना सुख और उन के दुःख को अपना दुःख समझना चाहिये। जिस प्रकार हम अपनी लौकिक माता से उत्पन्न अपने भाई के दुःखों को दूर करने और सुखों को बढ़ाने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार उस जगज्जननी से उत्पन्न अपने भाईयों के दुःखों को दूर करने और उन के सुखों को बढ़ाने के लिये भी हमें सदा शक्ति भर यत्न करते रहना चाहिये। इस के लिये हमें जितना त्याग करने की आवश्यकता हो उसे करने के लिये सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। धर्म का अनुसरण स्वभावतः मनुष्य में इस प्रकार की भावनायें जागृत करता है और इन भावनाओं के अनुसार कार्य करने के लिये उसे प्रेरित करता है। धर्म का धर्मत्व इसी में है। किसी पुरुष के धार्मिक होने की यही वास्तविक कसौटी है।

आर्यसमाज वेद के धर्म का प्रचार करता है। वेद का धर्म वह शुद्ध और पूर्ण धर्म है जिस का जगदुत्पत्ति के आरम्भ में भगवान् ने मनुष्यों को उपदेश दिया था। इस लिये आर्यसमाज द्वारा प्रचारित इस शुद्ध धर्म में तो विश्वबन्धुत्व और आत्म-त्याग की इन भावनाओं का उत्पन्न होना और भी अधिक अनिवार्य है। फलतः वेद के धर्म का प्रचार करने वाले आर्यसमाज में ये भावनायें आरम्भ काल से उत्पन्न होती रही हैं और वह इन धार्मिक भावनाओं के अनुसार सदा शक्तिभर कार्य करता रहा है।

जब धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कोई मनुष्य दूसरे लोगों के कल्याण के लिये अग्रसर होता है तो उस के लिये अपनी शक्ति और सामग्री का कम या अधिक त्याग करना नितान्त आवश्यक होता है। अपने पदार्थों

का त्याग किये बिना हम दूसरों का कल्याण और सुख साधन नहीं कर सकते। सभी प्रकार के त्यागों में हमें अपने स्वार्थ को, अपने सुख आराम को, छोड़ना होता है। सभी प्रकार के त्यागों में हमें अपने आत्मा की ममत्व-प्रधानता को दबाना होता है इस प्रकार सब त्यागों की तह में आत्म त्याग का भावना काम करता है।

जब आत्म-त्याग की यह भावना इस सीमा तक बढ़ जाती है कि आवश्यकता होने पर हम अपने प्राणों तक का उत्सर्ग करने के लिये भी उद्यत हो जाते हैं तो इस पराकाष्ठा के आत्मत्याग को सामान्य भाषा में 'आत्माहुति' या "बलिदान" कहते हैं।

जब तक अन्न, वस्त्र, धन, आदि स्थूल सामग्री द्वारा कष्टापन्न लोगों का दुःख दर्द दूर करके हम उन के सुख-साधन का प्रयत्न करते हैं तब तक "बलिदान" की नौबत हमारी प्रायः नहीं आती है। परन्तु अनेक बार लोगों का वास्तविक सुखसाधन करने के लिये हमें उन के प्रचलित विचारों को बदल कर उन के स्थान में नये विचार देना आवश्यक होता है। लोगों के जो कष्ट अज्ञान पर आश्रित हैं वे अज्ञान को दूर किये बिना दूर नहीं कर सकते। परन्तु मनुष्य के स्वभाव में यह दोष है कि वह अपनी भूल सुझाया जाना पसन्द नहीं करता। वह अपनी भूल बताने वाले से चिढ़ जाता है। वह भूल बताने वाले का अपकार तक करने के लिये तैयार हो जाता है। यदि भूल बताने वाला अपना काम निरन्तर करता चला जाये तो उस से मनुष्य यहां तक क्रुद्ध हो जाता है कि वह भूल बताने वाले के प्राण तक लेने के लिये तत्पर हो जाता है। धार्मिक भावना से प्रेरित भूल बताने वाला पुरुष लोगों के इस क्रोध से घबराता नहीं है। उस ने तो परमात्मा के पुत्रों का, अपने भाईयों का, दुःख-संकट दूर करना है। और वह अपने इन भाईयों का प्रचलित अज्ञान दूर करने से ही हो सकता है। इस लिये वह अपनी सच्ची-खरी बातें निर्भीक भाव से सुनाता चला जाता है। यदि उस के ये नासमझ भाई क्रुद्ध होकर उस के प्राणों को ही ले लेना चाहते हैं तो वह इस के लिये भी उद्यत रहता है। अज्ञानान्धकार को हटा कर ज्ञान का प्रकाश फैलाने के इस कार्य में वह हंसते-हंसते अपने आप को "बलिदान" करने के लिये भी तैयार रहता है। ऐसी अवस्था में धार्मिक पुरुषों के लिये अपनी "बलि" दे देने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रहता है।

एक और प्रकार के अवसर भी हैं जब मनुष्य को "बलिदान" होने के लिये तैयार रहना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य और मनुष्य-समाज के कुछ जन्मसिद्ध अधिकार हैं। ये अधिकार छिन जाने पर न कोई मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी रहता है और न कोई मनुष्य-समाज ही मनुष्यों का समाज कहलाने का अधिकारी रह जाता है। बहुत बार स्वार्थी और शक्ति के मद में चूर लोग हमारे इन अधिकारों को कुचलने के लिये तत्पर हो जाते हैं। हमें इन लोगों से अपने अधिकारों की रक्षा करनी होती है। अपने अधिकारों की रक्षा के इस काम में हमें भारी से भारी आत्म-त्याग करने की आवश्यकता पड़ती है। धन-सम्पत्ति का तो कहना ही क्या, हमें प्राणों का मोह छोड़ कर ऐसे अवसरों पर अपने जीवनों का भी बलिदान करना पड़ता है। धार्मिक वृत्ति के पुरुष ऐसे अवसरों पर भी हंसते-हंसते अपना "बलिदान" कर देते हैं।

वेद के धर्म का प्रचारक आर्यसमाज धार्मिक भावना से प्रेरित होकर प्रभु की सन्तानों का सुख-साधन करने के लिये तथा अपने जन्मसिद्ध अधिकारों की रक्षा के लिये सदा सब प्रकार के भारी से भारी त्याग करता रहा है। आर्यसमाज के लोग आवश्यकता होने पर इन कामों में अपने प्राणों का बलिदान भी खेलते-खेलते करते रहे हैं। आर्यसमाजियों के लिये त्याग और बलिदान की राह पर चलना एक स्वाभाविक सी बात रही है। क्योंकि जिस वेद के धर्म का वे प्रचार करते हैं; वह वेद स्वयं पुकार-पुकार कर कहता है :—

ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजां अपि गच्छतात् स्वाहा ॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥
ये युद्ध्यंते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ।

॥अथर्व १८।२।१५-१७

अर्थात् जो तुम से पहले के सत्य का सेवन करने वाले, सत्य को प्रकट करने वाले, सत्य को बढ़ाने वाले, तपों को करने और तप से उत्पन्न

होने वाले ऋषि लोग हैं, हे पुरुष ! तू अपने आप को संयमी और आत्मजयी (यम) बनाकर उन ऋषियों की पंक्ति में जा।" "तप के कारण जिन्हें कोई दबा नहीं सकता है, तप द्वारा जिन्होंने आनन्द प्राप्त किया है, जिन्होंने तप को महिमाशाली बनाया है, हे पुरुष ! तू उन लोगों की पंक्ति में जा।" "जो धर्म युद्धों में लड़ते हैं, जो शूरवीर अपने शरीरों का भी त्याग कर देते हैं और जो हजारों का दान करते हैं, हे पुरुष ! तू उन लोगों की पंक्ति में जा।"

जो लोग त्याग और बलिदान की भावनाओं को जगाने वाले वेद के इन उदात्त उपदेशों को पढ़ेंगे और इन का प्रचार करेंगे उनके लिये भारी से भारी आत्मत्याग भी एक अति आसान सी बात है।

वेद ने तो प्रभु के उपासक के मुख से भी कहलवा दिया है :—

तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ॥ऋग् १।२४।११

अर्थात्—"हे प्रभो ! यह आप का उपासक यजमान अर्थात् यज्ञ का जीवन व्यतीत करने वाला होकर सब तरह की हवियों के दान द्वारा सब प्रकार के त्यागों और बलिदानों के द्वारा आप के दर्शनों की आशा रखता है।"

छोटे बड़े सामान्य त्यागों के जीवन को मन्त्र में यज्ञ का जीवन कहा गया है और आत्माहुति या बलिदान के जीवन को 'हविर्दान' का जीवन कहा गया है। हवि का शब्दार्थ तो त्याग ही होता है। यज्ञाग्नि में दी जाने वाली सामग्री की आहुतियों को हवि कहते हैं। यज्ञाग्नि की हवि कुण्ड में पड़ कर अपने आप को सर्वथा स्वाहा कर देती है। जिन लोगों के जीवन में यज्ञाग्नि की हवि जैसा चरम सीमा का त्याग आ जाता है, जो अपना सब कुछ स्वाहा करके अपने शरीरों की, अपने जीवनों की, भी आहुति दे देने के लिये उद्यत रहते हैं, उन के जीवन को हविर्दान का जीवन कहा जाता है। जो लोग लोक-कल्याण और कर्त्तव्य-पालन के लिये अपने जीवनों तक की हवि देने के लिये तैयार रहते हैं, वेद कहता है, प्रभु के दर्शन भी उन्हीं आत्माओं को मिल सकते हैं।

जो लोग वेद के, बलिदान की भावनाओं से अनुप्राणित करने वाले इस प्रकार के उपदेशों का मनन करेंगे उनके लिये कौनसा त्याग और बलिदान हो सकता है जिसे वे बात ही बात में कर डालने के लिये उमगे नहीं रहेंगे ?

श्रद्धा का महत्व

वैदिक धर्म में श्रद्धा का बड़ा महत्व है। ऋग्वेद के १७।१५१ सूक्त में उपदेश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को श्रद्धाशील होना चाहिये और "प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल[1], सब समय, श्रद्धा की वृत्ति अपने अन्दर स्थिर रखनी चाहिये" और उसके लिये भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये। हमें श्रद्धाशील क्यों होना चाहिये? वेद इस का उत्तर देता है कि "श्रद्धा से ही अग्नि प्रज्वलित होती है और श्रद्धा प्रज्वलित होती है और श्रद्धा से ही हवि दी जाती है।" इस लिये हमें श्रद्धा की आवश्यकता है? अग्निहोत्र आदि यज्ञों में जो अग्नि प्रज्वलित की जाती है और उन में जो घृत-सामग्री आदि हवियों की आहुति दी जाती है वह श्रद्धा पर ही निर्भर करती है। बिना श्रद्धा के यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकते। वेद में अग्नि का अर्थ संकल्प भी होता है। हम अपने जीवन में जो भी छोटे बड़े कार्य करना चाहते हैं उन्हें करने के हमारे जो संकल्प होते हैं, जो निश्चय होते हैं, उन को भी अग्नि कहा जाता है। और अपने इन विभिन्न प्रकार के कार्यों को चलाने और सफल बनाने के लिये हम उन में अपना जो, समय, सामान, धन और मस्तिष्क आदि लगाते हैं वह सब हवि कहा जाता है। हमारे वे विभिन्न प्रकार के कार्य करने के संकल्प पूरे नहीं हो सकते यदि हम उन कार्यों को करने के लिये अपने समय और धन आदि को निरन्तर उन में न लगाते रहें। ये सब प्रकार की अग्नियां प्रज्वलित नहीं रह सकतीं और उन में उन की हवियां नहीं दी जा सकतीं यदि हमारे अन्दर उन के लिये श्रद्धा न हो। श्रद्धा अपने कार्यों, उद्देश्यों और आदर्शों के प्रति पूर्ण विश्वास और निष्ठा की भावना को कहते हैं। श्रद्धावान् व्यक्ति ही विश्वास और निष्ठा वाला व्यक्ति ही, किसी कार्य को कर सकता और पूर्णता तक पहुँचा सकता है। यह श्रद्धा और निष्ठा की भावना ही, व्यक्ति में अपने कार्यों, संकल्पों, उद्देश्यों और आदर्शों के लिये सब प्रकार के त्याग करने की भावना को जागृत करती है। यह श्रद्धा और निष्ठा की भावना ही जब बढ़ते-बढ़ते पराकाष्ठा तक बढ़ जाती है तब व्यक्ति अपने कार्यों, संकल्पों,

---

1. श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिन परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ऋग् १७।१५१।५॥

2. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ॥ऋग् १०।१५१।३॥

उद्देश्यों और आदर्शों की पूर्ति के लिये अन्न, वस्त्र, धन और समय आदि के साधारण त्यागों का तो कहना ही क्या है, बड़े से बड़े आत्मत्याग करने के लिये भी उद्यत हो जाता है। तब वह अपने शरीर और प्राणों का भी बलिदान करने के लिये तैयार हो जाता है। तब वह अपने उद्देश्यों और आदर्शों की पूर्ति के लिये मृत्यु का भी हंसते-हंसते आलिंगन कर लेता है। आत्मत्याग और बलिदान की भावना उग्र श्रद्धा की भावना का ही दूसरा नाम है। श्रद्धा, आत्मत्याग और-बलिदान की भावना के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते। कोई महान् कार्य तो कर ही नहीं सकते। इस लिये वैदिक धर्म में व्यक्ति को श्रद्धाशील बनने का उपदेश दिया गया है और आदेश दिया गया है कि वह "हविर्दान" का, सब प्रकार के आत्मत्याग और बलिदान का, जीवन बिताने वाला बने।

इस प्रकार की उग्र श्रद्धा और आत्मत्याग तथा बलिदान की भावना से भरे हुए जीवन में बिजली का सा असर होता है। किसी के ऐसे जीवन को देख कर देखने वालों में बिजली सी दौड़ जाती है। वे उस के जीवन से प्रभावित हो जाते हैं। वे उस का अनुकरण करने लगते हैं। और उस की राह पर चलने को तैयार हो जाते हैं। स्वयं भी उसी की भांति बड़े से बड़ा आत्मत्याग और बलिदान करने को उद्यत हो जाते हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि जब वह किसी में कोई उदात्त बात देखता है, जब वह किसी में कोई ऊँची और श्रेष्ठ बात देखता है, जब वह किसी भी क्षेत्र में कोई कमाल की बात करते हुए किसी को देखता है, तो वह उससे चमत्कृत हो जाता है और स्वयं भी वैसा बनने का इच्छा करने लगता है। किसी श्रेष्ठ गायक का संगीत सुनकर हम सोचने लगते हैं कि हम भी वैसा ही गा सकते। किसी ऊंचे कवि की कविता सुन और पढ़ कर हम भी वैसी ही कविता कर सकते। किसी महान् खिलाड़ी के खेल देखकर हम सोचने लगते हैं कि हम भी वैसा ही खेल सकते। किसी उत्कृष्ट वक्ता को सुनकर हम सोचने लगते हैं कि हम भी वैसी ही वक्तृता दे सकते, किसी महान् विद्वान् और वैज्ञानिक को देखकर वैसा ही विद्वान् और वैज्ञानिक बनने की, किसी महान् दानी को देखकर वैसा ही दानी बनने की, और किसी महान् विजेता की कथा सुनकर वैसा ही महान् विजेता बनने की इच्छा हमारे भीतर उत्पन्न होने लगती है। जब हम अर्जुन, कर्ण,

प्रताप, शिवाजी और नैपोलियन जैसे वीरों की कथाएं पढ़ते हैं तो हमारे अन्दर वैसा ही वीर बनने की भावना जागती है। देशभक्त लोगों की कथायें पढ़कर हम भी देशभक्त बनना चाहते हैं। धर्म पर न्यौछावर होने वाले हकीकत राय जैसे आत्मत्यागियों के जीवन वृत्तान्त सुन और पढ़कर हम भी अपने आप को धर्म पर न्यौछावर कर देने वाला बनने की इच्छा करने लगते हैं। किसी उत्कृष्ट तपस्वी, साधु-सन्त और महात्मा को देखकर हमारी भी इच्छा होने लगती है कि हम भी वैसा ही बन सकते। श्रेष्ठता, उदात्तता, कौशल और प्रवीणता में जादू कर देने की शक्ति होती है। चाहे यह श्रेष्ठता और प्रवीणता किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो। हम उस से अभिभूत होते हैं और हमारे अन्दर वैसा ही बनने की उत्कण्ठा और तरंग उत्पन्न होने लगती है। श्रेष्ठ और ऊँचे लोगों को देखकर हम भी श्रेष्ठ और ऊँचा बनना चाहते हैं।

समाजों, जातियों और राष्ट्रों की उन्नति के लिये उन के सदस्यों का श्रेष्ठ और ऊँचा होना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह जो कुछ भी बनता है अपने समाज के सदस्यों के अनुकरण और सहयोग से ही बनता है। किसी समाज, और राष्ट्र के सदस्य अच्छे होंगे तो वह स्वयं सामूहिक रूप से भी अच्छा होगा। व्यक्ति अनुकरण से अच्छे बना करते हैं। इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ और ऊँचा बनने का प्रयत्न करना चाहिये जिस से उस के उदाहरण से समाज के दूसरे सदस्य श्रेष्ठ और ऊँचे बनते रह सकें, और उसे स्वयं अपने से श्रेष्ठ दूसरे लोगों का अनुकरण करके अपने आप को और अधिक श्रेष्ठ ऊँचा बनाते रहना चाहिये। यह क्रम समाज और राष्ट्र के व्यक्तियों में निरन्तर चलते रहना चाहिये। इसी लिये वैदिकधर्म का आदेश है कि प्रत्येक मनुष्य को श्रद्धावान् बनना चाहिये, अपने कार्यों, संकल्पों, उद्देश्यों और आदर्शों में पूर्ण विश्वास और निष्ठा रखने वाला बनना चाहिये। उसे "हविर्दान' का जीवन बिताना चाहिये, उसे अपते कार्यों, संकल्पों, उद्देश्यों और आदर्शों की सिद्धि के लिये सब प्रकार के त्याग, सब प्रकार के बलिदान करने के लिये भी उद्यत रहना चाहिये। आवश्यकता होने पर उसे अपने प्राणों की आहुति देने के लिये भी तत्पर रहना चाहिये। जिस समाज के व्यक्तियों में श्रद्धा और निष्ठा की, यह

आत्मत्याग और बलिदान की भावना भरी रहेगी, वह सदा सफलता और उन्नति के मार्ग पर चलता रहेगा। उसे सदा प्रत्येक क्षेत्र में विजय ही विजय मिलेगी।

आर्यसमाज के प्रवर्तक और वैदिकधर्म के महान् प्रचारक महर्षि दयानन्द का जीवन वेद की उच्च उदात्त शिक्षाओं से अनुप्राणित था। वेद की इन शिक्षाओं तथा महर्षि दयानन्द के आदर्शों और जीवन से अनुप्राणित होकर आर्यसमाज सदा अपने सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा के लिये बड़े से बड़े बलिदान देने के लिये सन्नद्ध रहा है। इसी लिये तो वेद के धर्म का प्रचार करने वाले आर्यसमाज के इतिहास का एक-एक पृष्ठ भारी से भारी त्याग और बलिदान की कथाओं से भरा पड़ा है। आर्यसमाज के भारी त्यागों और महान् बलिदानों की कहानी विस्तार से कहने के लिये हमारे पास स्थान नहीं है। अगले थोड़े से पृष्ठों में हम आर्यसमाज के इतिहास के इस पहलू का बहुत संक्षिप्त वर्णन पाठकों के आगे उपस्थित करते हैं।

आर्यसमाज और लोक कल्याण

आर्यसमाज द्वारा दिये गये जीवनों के बलिदानों की चर्चा करने से पहले समय-समय पर लोक-कल्याण के लिये आर्यसमाज जो भारी त्याग करता रहा है उन में से कुछ की ओर निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा करने से आर्यसमाज की बलिदान भावना का वास्तविक स्वरूप समझने में बहुत सहायता मिलेगी, इस से हमें आर्यसमाज के बलिदानों की तह में छिपी हुई मौलिक प्रेरणा का समझना सुगम हो जायेगा।

हमने ऊपर कहा है कि धार्मिक भावना स्वभावतः धार्मिक पुरुषों के भीतर प्राणिमात्र के दुःख दर्द में समवेदना के भाव उत्पन्न करती है। इसी लिये हम देखते हैं कि जब कभी मनुष्य समाज के किसी अंश पर कोई विपत्ति आई है तो आर्यसमाज उसी समय पीड़ित लोगों की सहायता करने के लिये आगे बढ़ा है। ऐसे अवसरों पर आर्यसमाज सदा कष्टापन्न लोगों की सेवा करने के लिये उन के पास अपने स्वयं सेवकों की सेनायें भेजता रहा है और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये मुक्तहस्त से धन की सहायता देता रहा है। आर्यसमाज का जीवन अभी छोटा ही है। आर्यसमाज की स्थापना ऋषि दयानन्द ने सन् १८७५ में की थी। अपने जीवन के इन ८७

सालों में आर्यसमाज ने कष्टापन्न जन-समाज की सेवा का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने दिया है। सन् १८९६-९८ और १८९९-१९०० में हमारे देश में भयंकर अकाल पड़े थे। अन्न न मिलने से अनगिनत आदमियों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे। असंख्य बसे हुए घर उजड़ गये थे। भूख से विह्वल होने के कारण पति को पत्नी की और माता को सन्तान की सुध न रही थी। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई थी। आर्यसमाज अभी अपने आरम्भिक काल में ही था। उस की शक्ति का अभी बहुत विकास नहीं हुआ था। फिर भी आर्यसमाज ने अकाल से आक्रान्त प्रदेशों में अपने सेवक भेजे, पीड़ित लोगों को अन्न, वस्त्र और धन की शक्ति पर सहायता दी। सैकड़ों अनाथ बच्चों की रक्षा की और असहाय अबलाओं की लज्जा को ढका। हज़ारों रुपया इस काम में आर्यसमाज ने खर्च किया। उस समय पीड़ितों की सहायता करने वाला एक मात्र भारतीय समाज आर्यसमाज था। सन् १९०८ के अकाल में भी आर्यसमाज ने इसी प्रकार हजारों रुपया व्यय करके पीड़ितों की सहायता की।

कांगड़ा की घाटी में सन् १९०४ में एक भयंकर भूकम्प आया था। भूकम्प से जन और धन की घोर हानि हुई थी। हज़ारों आदमी निराश्रय और बे-घर बार के हो गये थे। उस समय भी आर्यसमाज सब से पहले पीड़ित लोगों की सहायता और सेवा करने के लिये पहुँचा था।

सन् १९१८ में गढ़वाल के प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा था। एक भीषण अकाल में जनता की जो दुःखपूर्ण शोचनीय स्थिति हो जाया करती है वही स्थिति गढ़वाल के लोगों की हो गई थी। लोगों को खाने, पहनने को नहीं मिलता था। सर्वत्र हाहाकार मच गया था। उस समय भी आर्यसमाज दुःखाकुल जनता की सेवा के लिये तत्काल आक्रान्त प्रदेश में पहुँचा। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने वहां जाकर डेरे लगा लिये। उन के नेतृत्व में गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारी और स्नातक तथा अन्य आर्यसमाजी लोग आक्रान्त प्रदेश के गांव-गांव में घूमकर पीड़ित लोगों में अन्न, वस्त्र और औषधियां बांटने गये। और भी जिस प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती पीड़ित लोगों को वह सब दी जाती। इस काम में अकेले स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के द्वारा आर्यसमाज ने ७०३३०) रु: व्यय किये थे। महात्मा हंसराज जी की अध्यक्षता में वहां अलग काम हो रहा था। उनके द्वारा जो हज़ारों रुपया व्यय हुआ वह अलग है।

जून १९३४ में बिहार में भयंकर भूकम्प आया। नगरों के नगर नष्ट भ्रष्ट हो गये। इस दुर्दैव का यहां वर्णन हो सकना कठिन है। आर्यसमाज के लोग इस समय भी विपद्-ग्रस्त जनता की सेवा के लिये दौड़कर पहुँचे। लोगों की सब प्रकार की सहायता की गई। भूखों और नंगों को अन्न और वस्त्र दिये गये। बे-घर बारों के लिये निवासार्थ झोंपड़े बनवाये गये। अकेली आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने इस काम में कोई १०,०००) रु व्यय किये थे। अन्य प्रांतों की समाजों और सभाओं ने जो विपुल खर्च किया था वह अलग है।

पुनः १९३५ में क्वेटा में भीषण भूकम्प आया। सारा क्वेटा विनष्ट हो गया। हज़ारों लोग दब कर मर गये। सब की चल और अचल सम्पत्ति नष्ट हो गई। आर्यसमाज इस समय भी विपदाक्रान्त लोगों की सहायता और सेवा के लिये तत्काल पहुंचा। जिन को अन्न की ज़रूरत थी उन्हें अन्न दिया गया। जिन्हें दवा-दारू और मरहम-पट्टी की आवश्यकता थी उन्हें वह दी गई। जिन्हें रुपये की आवश्यकता थी उन्हें वह दिया गया। जिन्हें देश में अपने घरों में पहुंचाने की आवश्यकता थी उन्हें वहां पहुंचाने का प्रबन्ध किया गया। इस कार्य में भी आर्यसमाज ने हज़ारों रुपया खर्च किया। अकेले आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने ही कोई १६,०००) रु० खर्च किया। प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा आदि संस्थाओं द्वारा व्यय की गई विपुल राशि अलग है।

सन् १९४२ में सिन्ध नदी के चढ़ जाने से सिन्ध प्रान्त में भयंकर बाढ़ आई। गांव के गांव पानी में दब गये और बह गये। हज़ारों आदमी बे घरबार के और अन्न, वस्त्र से विहीन हो गये। मलेरिया भयंकर रूप से फूट पड़ा। इस विपत्ति के समय भी आर्य समाज झट पीड़ित लोगों की सहायता के लिये वहां पहुँचा। लोगों को हज़ारों रुपये के वस्त्र और दवाइयां वितरण की गईं। चिकित्सा के लिये केन्द्र स्थापित किये गये। अन्य सब प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति की गई। इस अवसर पर भी आर्यसमाज ने हज़ारों रुपया खर्च किया। अकेले आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने ही, इस समय कोई ९३,०००) रु० खर्च किया। अन्य सभाओं और समाजों ने जो भारी व्यय किया वह अलग है।

सेवा के इन सब अवसरों पर आर्यसमाज जाति और सम्प्रदाय

के भेदभाव को भुला कर कष्टापन्न मात्र की मात्र की सहायता और सेवा करता रहा है। सिन्ध प्रान्त में तो सब काम प्रधानतः हुआ ही मुस्लिम प्रधान प्रदेशों में था।

जनता की सेवा के अन्य अवसरों पर भी आर्यसमाज ने भारी काम किया है। उदाहरण के लिये १९३२ में जम्मू प्रदेश में वहां के मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अवांछनीय अत्याचार किये थे। प्राणों की हत्या, माल असबाव की लूट, स्त्रियों और बच्चों पर बलात्कार आदि कोई ऐसी पशुता न थी जो उन उपद्रवों में हिन्दुओं पर न की गई हो। पीड़ितों की संख्या हजारों तक पहुँच गई थी। इस संकट से बचने का उपाय एकमात्र इस्लाम को स्वीकार कर लेना था। इस घोर विपत्ति के समय भी आर्यसमाज पीड़ितों की सहायता के लिये तत्काल वहां पहुँचा। स्वतन्त्रानन्द जी महाराज की अध्यक्षता में दयानन्द उपदेशक विद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक तथा अन्य आर्यसमाजी पुरुष इस निर्दयता के क्षेत्र में जा पहुँचे। पीड़ितों की अन्न, वस्त्र द्वारा सहायता की गई। जो लोग डर कर अपने धर्म से गिर गये थे उन्हें वापिस अपने धर्म में लाया गया।

दक्षिण भारत के मालाबार प्रान्त में मोपला मुसलमानों के प्रसिद्ध मोपला काण्ड के समय भी वहां के हिन्दुओं पर इसी प्रकार के अत्याचार किये थे। उस समय भी आर्यसमाजियों ने वहां पहुँच कर पीड़ितों की भरपूर सहायता की थी।

सन् १९४२-४३ में बंगाल प्रान्त में भयंकर अकाल पड़ा था। यह अकाल अभूतपूर्व था। प्राकृतिक और मानवीय दोनों ही प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियां इस विकट अकाल का कारण थीं। जहां प्राकृतिक कारणों से उस प्रान्त में अन्न नहीं उपजा था वहां तात्कालिक बृटिश सरकार की कुव्यवस्था के कारण अन्य स्थानों से भी पर्याप्त अन्न नहीं पहुंचाया जा सका था। फलतः वहां विकराल अकाल पड़ा और लाखों नर-नारी मौत के घर पहुंच गये। लोगों का तो कहना है कि उस अकाल में कम से कम ५० पचास लाख लोगों की मृत्यु हुई। अकाल से ३० लाख मनुष्यों की मृत्यु हुई थी। यह तो उस समय की सरकार ने भी स्वीकार किया था। इस अकाल के समय भी सैकड़ों आर्य-सेवक जनता की सेवा के लिये वहां पहुँचे थे और बिना हिन्दू और मुसलमान का भेद किये पीड़ित जनता में अन्न,

वस्त्र और औषधियां बांटी थी। वहां की जनता में मुसलमानों की संख्या अधिक होने के कारण मुसलमानों को यह सहायता अधिक मात्रा में प्राप्त हुई थी। इस सेवा कार्य में भी आर्यसमाज ने हज़ारों रुपये की राशि व्यय की थी।

सन् १९४६-४७ में पूर्वी बंगाल के नोआखाली प्रदेशों में वहां के मुसलमानों ने वहां के हिन्दू निवासियों पर बड़े क्रूर अत्याचार किये थे। मुसलमानों ने ये अत्याचार श्री जिन्ना के नेतृत्व में तात्कालिक मुस्लिम लीग के भड़काने से पाकिस्तान बनाने की मांग पर आधारित राजनैतिक कारणों से किये थे। कोई नृशंस कर्म नहीं था जोकि मुसलमानों ने न किया हो। लोगों के घर जला दिये गये। धन-सम्पत्ति लूट ली गई। सैकड़ों आदमियों को मार डाला गया। नन्हें-नन्हें बच्चों तक को कत्ल कर दिया गया। जबरदस्ती लोगों को मुसलमान बनाया गया और महिलाओं का चरित्र भ्रष्ट किया गया। सारे प्रदेश में त्राहि-त्राहि मच उठी। मुस्लिम धर्मान्धता का नंगा रूप उस समय देखा गया। उस विकट समय में भी सार्वदेशिक और प्रान्तीय आर्यप्रतिधि सभाओं के तत्वावधान में आर्यसमाज के सैंकड़ों सेवक वहां पहुँचे थे और आर्यसमाज ने पानी की तरह रुपया बहा कर पीड़ित लोगों की भांति-भांति की सेवा की थी और उन्हें आश्वस्त किया था। तथा बलात् विधर्मी बनाये गये लोगों को पुनः अपने धर्म में वापिस लाया गया था।

सन् १९२४-२५ में भी देश में मुसलमानों द्वारा आयोजित दंगों की लहर चली थी। देश के कोहाट, बन्नू, पेशावर, रावलपिण्डी, मुलतान, सहारनपुर और कानपुर आदि अनेक नगरों में मुसलमानों ने हिन्दुओं पर नृशंस और कायरतापूर्ण अत्याचार किये थे। हिन्दुओं के धर्ममन्दिर जला दिये गये और अपवित्र कर दिये गये थे। उन के घरों में आग लगा दी गई थी। स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया गया था और छातियां तक काट डाली गई थीं। बूढ़े और बच्चे का भेद किये बिना अनगिनत लोगों को मौत के उतार दिया गया था। नृशंसता जिन अत्याचारों की कल्पना कर सकती है वे सब मुस्लिम गुण्डों द्वारा हिन्दुओं पर किये गये थे। इन संकट के समयों में भी आर्यसमाज के सेवक विपद्ग्रस्त लोगों के पास पहुंचे थे और उन की तरह तरह से सेवा की थी और इस कार्य में भी आर्यसमाज ने मुक्तहस्त होकर रुपया खर्च किया था।

इन सब अवसरों पर आर्यसमाज ने लाखों की संख्या में रुपया खर्च किया है। जब जब जनता पर किसी प्रकार की कोई विपत्ति आई हैं तब तब आर्यसमाज विपद्ग्रस्त लोगों की सेवा के लिये इसी प्रकार आत्मत्याग करता रहा है। स्थानाभाव से यहां अधिक उदाहरण नहीं बढ़ाये जा सकते।

आर्य समाज और शिक्षा

आर्य समाज की त्यागमयी भावना का परिचय देने के लिये उस के एक अन्य क्षेत्र में किये हुए कार्य की ओर भी संकेत कर देना उचित प्रतीत होता है। वह क्षेत्र है शिक्षा का। जनसमाज का अज्ञानान्धकार दूर करना आर्यसमाज का एक प्रधान उद्देश्य है। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दस नियमों वा उद्देश्यों में से एक नियम ही यह रखा है कि "अविद्या का नाश और विद्या की उन्नति करनी चाहिये"। शिक्षा के बिना लोगों का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। इस लिये शिक्षा का काम अपने प्रारम्भ काल से ही आर्यसमाज ने अपने हाथ में ले रखा है। इस लोक-कल्याण के काम में आर्यसमाज बेहद शक्ति खर्च कर रहा है। इस काम में आर्यसमाज पानी की तरह अपना रुपया बहा रहा है।

इस समय आर्यसमाज के कोई ३२ गुरुकुल चल रहे हैं। इन में से अकेले गुरुकुल कांगड़ी का वार्षिक खर्च ८,००,००० रु० है। गुरुकुल वृन्दाबन का वार्षिक खर्च १,००,०००) रु० है। गुरुकुल कांगड़ी की शाखाओं में से कईयों का वार्षिक व्यय एक-एक लाख रुपया है। उस की शाखा गुरुकुल कुरुक्षेत्र का वार्षिक खर्च ६०८३३) रु० है। गुरुकुल झज्जर का ८००००) रु० है। गुरुकुल भैंसवाल का ८०५००) वार्षिक है। आर्यसमाज के ५ कन्या गुरुकुल चल रहे हैं। इन में से गुरुकुल कांगड़ी की शाखा कन्या गुरुकुल देहरादून का वार्षिक व्यय २,००,०००) रु० है। कन्या गुरुकुल सासनी (हाथरस) का वार्षिक व्यय ४८,०००) रु० है। कन्या गुरुकुल बड़ौदा का वार्षिक व्यय १२५०००) रु०। हिसाब लगाया जाये तो सब गुरुकुलों पर मिलाकर आर्यसमाज प्रतिवर्ष कोई २५-३० लाख रुपये खर्च कर रहा है। आर्यसमाज के ३ उपदेशक विद्यालय हैं। इन में से अकेले दयानन्द उपदेशक विद्यालय भटिण्डा पर प्रतिवर्ष ११०००) रु० व्यय होता है। आर्यसमाज के दो दर्जन कालेज और कोई ६० हाई स्कूल और इण्टरकालेज चल रहे हैं। उदाहरण के लिये आर्य

कालेज लुधियाना का वार्षिक व्यय १,६१,०००)रु०, दयानन्द मथुरादास कालेज मोगा का १,७५,०००) रु०, डी०ए०वी० कालेज अम्बाला का २,६०,०००) रु० और डी० ए० वी० कालेज रुड़की का ६८०००) रु० है। डी० ए० वी० कालेज जालन्धर का ६०००००) वार्षिक, डी० ए० वी० कालेज शोलापुर का ६६५१६१) वार्षिक आर्य कालेज पानीपत का १२६३८४) वार्षिक और कन्या महाविद्यालय जालंधर का १७,००००) वार्षिक व्यय है। दयानन्द कालेज अजमेर का वार्षिक खर्च ४०००००) है। कुल मिलाकर इन कालेजों और स्कूलों पर आर्यसमाज प्रतिवर्ष कोई दो करोड़ रुपया खर्च कर रहा है। इतना ही नहीं आर्य-समाज की और भी अनेक शिक्षा संस्थाएं हैं। उस के कोई १५० मिडिल स्कूल हैं, कोई २०० प्राइमरी स्कूल, १५० रात्रि पाठशालायें, ३०० संस्कृत पाठशालायें और कोई ३०० कन्या पाठशालायें तथा ८-१० वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम चल रहे हैं। आर्यसमाज के कोई ५० अनाथालय और ४० विधवाश्रम चल रहे हैं। और कोई २ दर्जन धर्मार्थ औषधालाय चला रखे हैं। इन सब संस्थाओं पर भी प्रतिवर्ष लाखों रुपया खर्च होता है। आर्यसमाज की उपयुक्त सब संस्थाओं में मिलाकर लाखों बालक और बालिकायें शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इन सब गुरुकुलों, विद्यालयों, कालेजों, स्कूलों और पाठशालाओं पर आर्य-समाज प्रतिवर्ष कोई २-३ करोड़ रुपया खर्च कर रहा है।

आर्यसमाज संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष की ४४ करोड़ जनता में कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है। १६३६ की जनगणना में आर्य समाजियों की जनसंख्या केवल ६६०२३३ थी। अब उन की संख्या ५०-६० लाख होगी। यह संख्या बिल्कुल नगण्य है। इतने थोड़े आर्यसमाजी शिक्षा के क्षेत्र में इतना अधिक रुपया बहा रहे हैं। आर्यसमाज का लोककल्याण की वहनीय भावना से किया हुआ यह त्याग सचमुच अद्भुत है। यह भावना ही बढ़ते-बढ़ते जीवन-बलिदान का रूप धारण कर लेती है। आर्य-समाज द्वारा किये गये और किये जा रहे पार्थिव पदार्थों के बलिदान की ओर संकेत करके अब हम उस के जीवन-बलिदानों की कथा संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

प्रथम बलिदान

आर्यसमाज का सब से पहला बलिदान उस के संस्थापक स्वयं ऋषि दयानन्द का है। मानव-समाज के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ऋषि

दयानन्द ने सत्य का चक्र हाथ में लिया था। उन के सत्य के प्रचार के आगे असत्य, अधर्म, झूठ और पाखण्ड के दुर्ग धड़ाधड़ गिरने लगे। उन द्वारा की हुई सत्य की गर्जना को दुर्बल और तुच्छ हृदय वाले लोग सहन न कर सके। अनेक लोग उन के शत्रु होकर उनके प्राणों के प्यासे हो गये। अनेक बार ऋषि को मारने के प्रयत्न किये। न जाने कितनी बार ऋषि शस्त्रों के प्रहार से बाल-बाल बचे और न जाने कितनी बार ब्रह्मचर्य और तपस्या से बलिष्ठ उन के शरीर ने दिये गये हलाहल विष को हज़म किया। ऋषि सत्य का नाद बजाते-बजाते जोधपुर पहुँचे। राजमहलों में भी प्रचार हुआ। एक दिन ज्यों ही ऋषि उपदेश के लिये महलों में पहुंचे त्यों ही महाराज के पास से निकल कर जा रही नन्हीजान नामक वेश्या पर ऋषि की दृष्टि पड़ी! ऋषि ने तमक कर महाराजा को कहा—"सिंह कुतिया के साथ नहीं रहा करते, क्षत्रिय को वेश्या के साथ नहीं रहना चाहिये।" वेश्या ने ऋषि का यह वाक्य सुन लिया। वह क्रुद्ध हो गई। ऋषि के प्रचार से अनेक लोग पहले ही क्रुद्ध थे। वेश्या ने षड्यन्त्र करके ऋषि को विष दिलवा दिया। इस बार के विष को ऋषि का शरीर न पचा सका। योग क्रियाओं से भी वे विष को बाहर न कर सके। उन के रोम-रोम में असह्य यन्त्रणा देने वाले फोड़े निकल आये। ऋषि असीम धैर्य से इस असह्य पीड़ा को सहते रहे। योग्य डाक्टरों से इलाज कराया गया पर कोई लाभ न हुआ। अन्त में ३० अक्टूबर १८८३ की दीवाली की रात को "प्रभो! तूने अच्छी लीला की, तेरी इच्छा पूर्ण हो" इन शब्दों के साथ हंसते-हंसते योग की विधि से समाधिस्थ होकर ऋषि ने अपने इस नश्वर शरीर को त्याग दिया और ब्रह्म में लीन हो गये।

बलिदानों की परम्परा

ऋषि दयानन्द के बलिदान के पश्चात् आर्यसमाज के बलिदानों में धर्मवीर पं० लेखराम जी का बलिदान बहुत ऊंचा स्थान रखता है। ऋषि दयानन्द के दर्शन और उपदेश से पं० लेखराम में धर्मप्रचार की भावना प्रबल वेग से जाग उठी थी। वे अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर आर्यसमाज के उपदेशक बनकर धर्म-प्रचार के मैदान में उतर आये थे। उन के प्रचार में अद्भुत जादू होता था। जहां जाते थे धाक जम जाती थी। आप अरबी और फारसी के विशेष विद्वान् थे। इस से आप के प्रचार में मुसलमान भाइयों के अज्ञान और भूलों को विशेष रूप से दिखाया जाता था। उन के प्रचार से अनेक लोग

से अपना काम करते रहे। अन्त में ६ अप्रैल १६२६ को इल्मदीन नामक घातक ने अकस्मात् उन की दुकान पर आकर उन्हें छुरी के घाट उतार दिया। इल्मदीन पकड़ा गया और उस को फांसी मिली। राजपाल जी की हत्या का समाचार सुनकर लाहौर और पंजाब की सारी हिन्दू जनता विव्हल और उद्विग्न हो उठी। अपने धर्म के इस वीर सेवक और परवाने को अपनी श्रद्धांजलि देने के लिये उन की अर्थी के साथ सारा लाहौर उमड़ पड़ा। उन की शवयात्रा का जलूस जितना बड़ा था उतना बड़ा जलूस लाहौर में उस से पहले नहीं देखा गया था। लाखों आदमी शव-यात्रा में चल रहे थे और लाखों नर-नारी बाज़ारों में और मकानों की छतों पर खड़े होकर उस आत्म-बलिदान पर अपनी श्रद्धा के फूल बरसा रहे थे।

अभियोग के दिनों में और उस के बाद भी बड़ा प्रयत्न किया गया कि राजपाल जी रंगीला रसूल के असली लेखक का नाम बता दें। उन्हें कत्ल कर दिये जाने की धमकियां तो दी ही जा रही थीं। यदि राजपाल जी लेखक का नाम बता देते तो शायद उन के प्राण बच जाते। पर इस वीर पुरुष ने लेखक का नाम नहीं बताया। लेखक और प्रकाशक दोनों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ही ले लिया। स्वयं मर जाना स्वीकार किया पर विद्वान् लेखक को बचा लिया। इस दृष्टि से उन का बलिदान और भी निराला और महान् हो जाता है। इस सामान्य पुस्तक विक्रेता ने अपने बलिदान में जो स्तम्भित कर देने वाली वीरता दिखाई है वह इतिहास की एक दुर्लभ वस्तु है। आर्य-समाज का यह गौरव है कि उस में इस प्रकार के प्राण-होता उत्पन्न होते रहे हैं।

जनता पर प्रभाव

प्रभु की वाणी वेद के उपदेशकों का अनुसरण करते हुए आत्माहुति की जो लहर ऋषि दयानन्द ने चलाई थी उस ने उन के शिष्यों में बहुत गहरा प्रभाव किया है। उस से आर्यसमाज की सर्वसाधारण जनता में भी बहुत गहरी बलिदान की भावना उत्पन्न हो गई है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले सर्वसाधारण आर्यसमाजी भी आवश्यकता होने पर बात की बात में अपने जीवन का बलिदान कर देते हैं। पर अपने सिद्धान्तों और धर्म को नहीं छोड़ते। जितने चाहें उतने उदाहरण इस सम्बन्ध में यहां दि

जा सकते हैं। स्थानाभाव से निदर्शन के रूप में केवल दो-चार उदाहरण ही हम यहां दे सकेंगे।

आर्यसमाज के इतिहास के प्रारम्भिक दिनों की घटना है। आर्यसमाज का अस्पृश्यता निवारण का आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था। पंजाब के रोपड़ नगर में एक पंडित सोमनाथ रहा करते थे। वे अपने नगर और आसपास के प्रदेश में अछूतोद्धार का काम बड़े बल और उत्साह से कर रहे थे। शहर और बिरादरी के लोग उन से नाराज़ हो गये। उन्हें और उन के परिवार को बिरादरी से निकाल दिया गया। शहर के सब कुओं से उन के लिये पानी भरना बन्द हो गया। पं० सोमनाथ इस से विचलित नहीं हुए। उन्होंने जोहड़ों और नहर से पानी लेकर पीना आरम्भ कर दिया। यह पानी साफ़ नहीं होता था। इस के कुछ दिन निरन्तर सेवन से उन की माता रोगी पड़ गई। डाक्टरों का इलाज आरम्भ हुआ। पर रोगिणी को लाभ न हुआ। डाक्टरों के यह पूछने पर कि रोगी को पानी कैसा दिया जाता है उन्हें सब स्थिति बताई गई। उन्होंने कहा कि जब तक रोगी को कुएँ का पानी नहीं पिलाया जायेगा तब तक उसे आराम नहीं होगा। कुएं का पानी तो बिरादरी वालों से अछूतोद्धार के काम में क्षमा मांगने से और भविष्य में यह काम न करने की प्रतिज्ञा करने से ही मिल सकता था। पं० सोमनाथ इस के लिये तैयार न थे। उधर माता अच्छी नहीं हो रही थी। सोमनाथ उदास रहने लगे। माता ने उन की चिन्ता भांप ली। उस ने पुत्र से चिन्ता का कारण पूछा। पुत्र ने सब सच-सच कह दिया। वीर माता ने रोगशैया पर से मुस्कराकर कहा "बेटा! मैं कब तक जीती रहूँगी? मैंने एक दिन तो मरना ही है। अभी सही। तुम मेरी खातिर अपना धर्म न छोड़ना। धर्म जान से प्यारी चीज़ है। वह मेरी जान से भी प्यारा है। तुम अपने धर्म पर डटे रहो! मैं धर्म की खातिर हंसते-हंसते मरूँगी।" वीर पं० सोमनाथ की माता सचमुच हंसते-हंसते मर गई। पीछे से बिरादरी वालों ने पं० सोमनाथ के परिवार के लिये स्वयं ही कुओं से पानी भरने की स्वीकृति दे दी।

सन् १९०३ की एक घटना है। फरीदकोट रेलवे स्टेशन के पंडित तुलसीराम नामक एक स्टेशनमास्टर थे। ये दृढ़ आर्यसमाजी थे। अपने काम से जो समय खाली मिलता था उस में आर्यसमाज का प्रचार किया करते थे। शहर के जैनी लोगों से इन का विशेष रूप में वाद-विवाद रहा करता

था। जैनी लोग इन की युक्तियों से बड़े तंग रहा करते थे। वे इन्हें मार्ग से हटा देना चाहते थे। एक बार पंडित तुलसीराम ने बाहर से आर्य उपदेशक बुलाकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खूब प्रचार कराया। नास्तिकवाद का खण्डन हुआ। इस पर जैनी लोग पं० तुलसीराम से चिढ़ गये। एक दिन पंडित जी कहीं अकेले जा रहे थे। गोपीराम नाम के एक जैनी ने मौका देख कर पिसी हुई लाल मिर्च इनकी आंखों में झोंक दी। इस प्रकार इन के देखने में असमर्थ हो जाने पर उस नृशंस ने इन के पेट में छुरा घोंप दिया। लोगों को पता लगने पर इन्हें अस्पताल में लाया गया। बहुत औषधोपचार किया गया पर आप बच न सके। इस प्रकार अपने धर्म की सेवा करते हुए आप ने अपने जीवन की आहुति दे दी।

काश्मीर राज्य के महाशय रामचन्द्र नामक एक महाजन थे। ये राज्य की तहसील में खजानची थे। आप को दलितोद्धार के काम से अगाध प्रेम था। तहसील के काम से जो वक्त बचता उस में आप यही काम करते थे। अखनूर तहसील में बुटारा नाम का एक ग्राम है। वहां के मेघ अछूतों में आपने वैदिकधर्म के प्रचार का खूब काम किया। वहां के राजपूत लोग इन के काम से क्रुद्ध रहने लगे। रामचन्द्र जी ने अछूत बालकों के लिये एक पाठशाला खोलनी चाही। राजपूतों ने इस का घोर विरोध किया। नौबत यहां तक आ पहुंची कि १४ जनवरी १९२४ के दिन राजपूतों ने इकट्ठे होकर इन पर लाठियों की वर्षा आरम्भ कर दी। लाठियों की वर्षा से इन का अंग-अंग टूट गया। ये मूर्छित हो गये। पता लगने पर लोग इन्हें उठा कर अस्पताल ले गये। इलाज बहुत हुआ पर चोटें इतनी सख्त थीं कि ये बच न सके। २० जनवरी को इन का प्राणान्त हो गया। इन के बलिदान से राजपूतों के हृदय बदल गये। जो विरोधी थे उन्होंने पाठशाला के लिये भूमि और धन दिया। इन की स्मृति में आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब के तत्त्वावधान में बुटारा में प्रतिवर्ष एक शहीदी मेला लगता है।

आर्यसमाज के बलिदानों की माला के हैदराबाद (सिंध) के श्री नाथूराम जी भी एक उज्ज्वल रत्न हैं। अपने क्षेत्र में उन्होंने आर्यसमाज का खूब कार्य किया था। अनेक व्यायामशालायें खोली थीं और अनेक आर्ययुवक समाजों की स्थापना की थी। सनातनियों और मुसलमानों की ओर से आर्य-समाज पर जो आक्षेप हुआ करते थे उन का वे समाधान किया करते थे।

वहां मुसलमानों के अहमदी फिरके की एक अंजुमन थी। उक्त अंजुमन ने हिन्दुधर्म और हिन्दुमहापुरुषों पर गन्दे आक्षेप करने वाले इश्तिहार निकाले। उस से नाथूराम जी और उन के साथी तिलमिला उठे। नाथूराम जी ने मुसलमानों के इस प्रचार का उत्तर देने का संकल्प कर लिया। पहले तो उन्होंने ईसाइयों द्वारा इस्लाम पर लिखी हुई "तारीखे इस्लाम" नामक पुस्तक का सिंधी भाषा में अनुवाद करके उसे प्रकाशित किया। फिर एक ट्रैक्ट निकाला जिस में मौलवियों से इस्लाम के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे गये थे। ये दोनों पुस्तकें उन्होंने प्रचार की दृष्टि से लोगों में मुफ्त बांटी। इस्लाम के सम्बन्ध में खरी-खरी बातें बताने वाली इन दोनों पुस्तकों से मुसलमानों में खलबली मच गई। नाथूराम जी के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन किया गया। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकार ने नाथूराम जी पर मुकदमा चलाया। नाथूराम जी ने अपनी सफाई में कहा कि एक पुस्तक ईसाइयों की लिखी पुस्तक का अनुवादमात्र है, फिर दोनों पुस्तकों में जो कुछ लिखा गया है वह इस्लामी साहित्य के आधार पर लिखा गया है। उन्होंने अपने समर्थन में मुस्लिम साहित्य से प्रमाण उपस्थित किये। फिर भी मैजिस्ट्रेट ने उन पर एक हज़ार का ज़ुर्माना किया और डेढ़ साल की सज़ा दी. इस निर्णय के विरुद्ध चीफ कोर्ट में अपील की गई। २० सितम्बर १६३४ को अपील का निर्णय सुनाया जाना था। कचहरी दर्शकों से खचाखच भरी हुई थी। लोग जजों के बैंच के निर्णय की उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे। अचानक एक दर्दभरी चीख निकली। नाथूराम जी के पास बैठे अब्दुल कयूम नामक एक धर्मान्ध मुसलमान ने उन के पेट में छुरा भोंक दिया था। उन की अन्तड़ियां बाहर निकल आईं। और वे उसी समय अमर पद को प्राप्त हो गये। घातक को पकड़ लिया गया और उसे फांसी दी गई। नाथूराम जी के शव का चीफ जज ने सिर झुका कर अभिवादन किया। शान से उन की अर्थी निकाली गई। अर्थी के साथ हज़ारों लोग श्मशान तक गये और शहीद के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस वीर ने निर्भीकभाव से अपने धर्म का प्रचार किया और उस के गौरव तथा मान की रक्षा के लिये अपने प्राणों पर भी खेल गया।

बलिदानों की इस शृंखला में हरियाणा के प्रसिद्ध भक्त फूलसिंह जी भी अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। हरियाणा प्रदेश में आर्यसमाज के

इस्लामछोड़कर शुद्ध होकर वैदिक धर्म ग्रहण कर लेते थे। इस से मुसलमानों के कुछ साम्प्रदायिक लोग पंडित जी से क्रुद्ध रहने लगे। एक दिन एक छद्म-वेषी मुसलमान युवक उन के पास आया। वह कहने लगा कि मैं आप के पास रहकर वैदिकधर्म का स्वाध्याय करना चाहता हूँ और इस्लाम छोड़कर आर्य बनना चाहता हूं, पंडित जी को और क्या चाहिये था। उस युवक को अपने पास रख लिया। हितैषियों ने युवक की चाल-ढाल देखकर पंडित जी को सावधान भी किया। पर धर्म के मतवाले पंडित जी किसी की न सुनते थे। उन दिनों पंडित जी ऋषि दयानन्द के जीवन को लिखने का काम कर रहे थे। ६ मार्च सन् १८९७ की सायंकाल को पंडित जी लिखने का कार्य समाप्त करके उठे। उन्होंने अंगड़ाई ली। उसी समय मौका पाकर उस नराधम युवक ने पंडित जी के पेट में छुरा घोंपकर उसे चारों ओर घुमाकर उन की अन्त-ड़ियों को चाक-चाक कर दिया। पंडित जी ने असीम धैर्य दिखाया। उन्हें अस्पताल में ले जाया गया। पर कोई लाभ न हुआ। उसी रात को उन का देहान्त हो गया। उन के मृत मुख-मण्डल पर भी अद्भुत शान्ति और कान्ति विराज रही थी।

स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान

आर्यसमाज के बलिदानों में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का बलिदान विशेष स्थान रखता है। पंडित जी की भांति ही ऋषि दयानन्द के दर्शनों और उपदेशों ने स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन में भी क्रान्ति मचा दी थी। वे वैदिक धर्म के दीवाने हो गये थे। आप का प्रारम्भिक नाम ला० मुंशीराम था। आप जालन्धर के प्रसिद्ध वकील थे। वकालत के काम से जो समय बचता था उसे आप वैदिकधर्म के प्रचार में लगाया करते थे। आप व्याख्यान भी दिया करते थे और शास्त्रार्थ भी करते थे। इस के अतिरिक्त सद्धर्मप्रचारक नाम का साप्ताहिक पत्र भी निकाला करते थे। इस पत्र के लेखों से धर्म की गंगा बहा करती थी। थोड़े ही समय में आप आर्यसमाज के अद्वितीय नेता बन गये। फिर आपने वकालत पर भी लात मार दी और सारा समय आर्य-समाज के प्रचार में देने लगे। लोग आप के नाम और चरित्र को देखकर आप को महात्मा मुंशीराम कहने लगे। ४ मार्च १९०२ को आपने हरिद्वार में प्रसिद्ध विश्वविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। गुरुकुल की स्थापना शिक्षा के क्षेत्र में अद्भुत बात थी। इस से आप का नाम देश-विदेश में

प्रसिद्ध हो गया। गुरुकुल के आचार्य के रूप में आप की अद्भुत आभा थी। कई योरोपियन यात्रियों ने इस समय आप की ईसामसीह से तुलना की। गुरुकुल की स्थापना के समय आपने त्याग की पराकाष्ठा कर दी थी। आपने अपनी सारी सम्पत्ति गुरुकुल को अपने जीवन के साथ ही दान कर दी थी। देर तक गुरुकुल की सेवा करने के पश्चात् आपने संन्यास ले लिया। तब से आप स्वामी श्रद्धानन्द कहलाने लगे। आप की सेवाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया था। कुछ समय आपने कांग्रेस के साथ राजनैतिक क्षेत्र में भी भारी काम किया था। १६१६ में रौलट एक्ट के आन्दोलन के दिनों में आपने अद्भुत कार्य किया था। ३० मार्च १६१६ के दिन आप के नेतृत्व में देहली में की जा रही सभा पर जब सरकारी सैनिक गोलियां चलाने आये थे तो आप छाती तानकर उन के आगे खड़े हो गये थे और कह दिया था कि "लो मेरी छाती खुली है, चला लो गोलियां।" उस समय हिन्दू और मुसलमानों में गहरी एकता थी। उस समय की स्वामी जी की देश की सेवाओं से मुसलमान भी बहुत प्रसन्न हुए थे। ४ अप्रैल १६१६ को स्वामी जी का दिल्ली की सुप्रसिद्ध जामा मस्जिद की वेदि से धर्मोपदेश हुआ था। इस्लाम के इतिहास में शायद यह एकमात्र घटना है जब कि किसी गैरमुस्लिम ने किसी मस्जिद की वेदि से धर्मोपदेश दिया हो। १६१६ की अमृतसर में होने वाली कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष आप ही बने थे। इस के अनन्तर आपने अछूतोद्धार के सम्बन्ध में विशेष आन्दोलन चलाया था और इस के लिये सारे भारत की यात्रा की थी। हिन्दुमहासभा के संगठन और आन्दोलन को भी आपने भारी बल दिया था। अन्तिम दिनों में आप को धर्मान्ध मुसलमानों से हिन्दुओं की रक्षा के लिये शुद्धि के आन्दोलन को विशेष रूप से अपने हाथ में लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। इस आन्दोलन को आपने सारे भारतवर्ष का विषय बना दिया था। धर्मान्ध मुसलमानों की आंख में स्वामी श्रद्धानन्द कांटे की तरह खटकने लगे। उन्होंने उन्हें मार्ग से दूर कर देने का निश्चय कर लिया। १६२६ के दिसम्बर में स्वामी जी निमोनिया से रोगी होकर उठे थे। उस वृद्धावस्था के रोग के कारण शरीर अभी बहुत दुर्बल था। २३ दिसम्बर की शाम को अब्दुल रशीद नाम का एक मुसलमान स्वामी जी के स्थान पर आया। आकर कहने लगा कि मैंने स्वामी जी से धर्म के सम्बन्ध में कुछ बातें करनी हैं। स्वामी जी के सेवकों ने आपकी दुर्बलता को देखकर उसे वापिस भेजना चाहा। स्वामी जी ने अपने कमरे में यह

बातचीत सुन ली। उन्होंने अब्दुलरशीद को अपने पास बुला लिया। उस ने पानी मांगा। स्वामी जी ने उसे पानी पिलवाया। पानी पीते ही उसने स्वामी जी की छाती पर पिस्तौल से गोलियां दाग दीं। तत्काल उन का आत्मा नश्वर शरीर को छोड़कर उड़ गया। अब्दुलरशीद को पानी पिलवाने और उस की धर्म जिज्ञासा को शान्त करने की भावना से स्वामी जी के चेहरे पर जो कृपा, सन्तोष और शान्ति की मुस्कराहट पूर्ण मुद्रा आ विराजी थी वह उन के मृत मुखमण्डल पर भी उसी प्रकार विराज रही थी।

महाशय राजपाल

आर्यसाहित्य के प्रसिद्ध प्रकाशक और विक्रेता लाहौर निवासी महाशय राजपाल जी का नाम भी इस प्रसंग में अनायास याद हो जाता है। आर्यसमाज के बलिदानों की परम्परा में उन का बलिदान भी एक निराला स्थान रखता है। बाल्यकाल से ही महाशय राजपाल जी को आर्यसमाज के सिद्धान्तों में दृढ़ आस्था और उस के कामों में गहरी रुचि थी। वे जहां भी और जिस भी स्थिति में रहे आर्यसमाज की सेवा शक्तिभर करते रहे। इस के लिये वे अपने समय और धन का दान निःसंकोच भाव से करते रहे। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रसार अधिक से अधिक हो और उन का सन्देश घर-घर में पहुँचे, यह भावना महाशय राजपाल जी में बड़ी प्रबल थी। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने आर्यसामाजिक साहित्य के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया और अपनी सारी शक्ति इस काम में लगा दी। "सरस्वती-आश्रम और आर्यपुस्तकालय" नामक उन के प्रकाशनमन्दिर ने आर्यसाहित्य के निर्माण और प्रकाशन में अद्वितीय कार्य किया। उन्होंने उर्दू और हिन्दी में ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के प्रचार की दृष्टि से सस्ते संस्करण निकाले। विभिन्न विषयों पर छोटी-बड़ी दर्जनों पुस्तकें आर्य विद्वानों से लिखा कर प्रकाशित कीं। दाम सस्ते रहने के कारण इनकी प्रकाशित पुस्तकें धड़ाधड़ बिकने लगीं। प्रत्येक प्रकाशन के कई कई संस्करण निकले। पंजाब भर की, और पंजाब से बाहर की भी, आर्यसमाजों के उत्सवों पर महाशय राजपाल जी के आदमी इन के प्रकाशित साहित्य को ले जाया करते थे जहां उसकी खूब बिक्री होती थी। डाक से उनके प्रकाशन घर-घर में पहुंचते थे। इस प्रकार राजपाल जी ने आर्यसमाज के विचारों और सिद्धान्तों के प्रचार में निराला कार्य किया। इन का व्यापार

हद दर्जे की ईमानदारी पर आधारित था। उस में प्रचार की भावना थी, लोभ का अंश नहीं था। प्रकाशनों का मूल्य सस्ता रखते और लेखकों को उचित पारिश्रमिक देते थे।

सन् १६२४ में कादियान से. मुसलमानों ने "उन्नीसवीं सदी का महर्षि" नाम से एक पुस्तक निकाली। इस पुस्तक में ऋषि दयानन्द पर बहुत भद्दे और अश्लील आक्षेप किये गये थे। आर्यसमाज के दिवंगत एक प्रसिद्ध विद्वान् ने "रंगीला रसूल" नामकी एक पुस्तक मुसलमानों की उक्त पुस्तक के जवाब में लिखी। जिसे राजपाल जी ने मई १६२४ में प्रकाशित किया। रंगीला रसूल बिकता रहा। आरम्भ में उस पर न किसी मुसलमान ने आपत्ति उठाई और न ही सरकार ने कोई कार्यवाही की। उस पुस्तक की प्रति किसी मुसलमान ने महात्मा गांधी के पास भेज दी। गांधी जी ने अपने पत्र "यंग इंडिया" में उस की कटु आलोचना कर दी। इस के बाद उस पुस्तक के विरुद्ध मुसलमानों में घोर आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस पर सरकार ने राजपाल जी पर अभियोग चलाया। निचले न्यायालय ने उन्हें जेल की सजा दी, पर हाईकोर्ट से आप बरी हो गये। राजपाल जी का अभिप्राय मुसलमानों को चिड़ाना नहीं था। हाईकोर्ट में जीत कर भी उन्होंने घोषणा कर दी कि उक्त पुस्तक को पुनः प्रकाशित नहीं किया जायेगा। पर मुसलमानों की कट्टरता शान्त न हुई। राजपाल जी को मार डालने की धमकियां दी जाने लगीं। राजपाल जी इन धमकियों से विचलित नहीं हुए। वे शान्तभाव से अपने सब कार्य करते रहे। राजपाल जी को मारने के लिये उन पर पहला आक्रमण किया गया। श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी और स्वामी वेदानन्द जी उस समय राजपाल जी की दुकान पर ही थे। उन के बचाव के प्रयत्न से राजपाल जी को घातक घाव न लग सके। उन के हाथों, भुजा और जंघा पर घाव आए। महाशय जी को चिकित्सा के लिये महीना भर हस्पताल में रहना पड़ा। उन पर दूसरा आक्रमण अक्टूबर १६२७ को हुआ। राजपाल जी उस समय दुकान पर न थे। स्वामी सत्यानन्द जी महाराज किसी काम से उन की दुकान पर गये हुए थे। घातक अब्दुल अज़ीज ने उन्हें ही राजपाल जी समझ कर उन की पीठ में छुरा भोंक दिया। स्वामी जी बच गये पर उन्हें लम्बे अर्से तक हस्पताल में रहना पड़ा। आक्रमणकारी को सज़ा मिली। राजपाल जी को निरन्तर धमकियां मिलती रहीं कि या तो मुसलमान हो जाओ अन्यथा कत्ल कर दिये जाओगे। पर वे निर्भीकभाव

प्रचार में भक्त फूलसिंह जी का बहुत ऊंचा स्थान है। आर्यसमाज के प्रचार की आप में इतनी अधिक लगन थी कि उस के लिये आपने अपनी सरकारी नौकरी भी छोड़ दी थी और सर्वात्मना समाज के प्रचार के कार्य में लग गये थे। आपने अपने प्रचार कार्य के प्रसंग में हरियाणा के गांव-गांव में भ्रमण किया। लोगों को वैदिकधर्म के सिद्धान्तों का उपदेश किया। गांवों के लोगों के आपसी झगड़े सुलझाये। जिन्हें शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन करने की आदत थी उन की वह आदत छुड़ाई। जो जूआ खेलने के व्यसन में फंसे थे उनका वह व्यसन दूर किया। हजारों लोगों को यज्ञोपवीत दिये और उन्हें आर्यसमाजी बनाया। वैदिकधर्म के प्रचार को दृढ़ता देने के लिये उन्होंने रोहतक जिले में भैंसवाल नामक गांव में बालकों के लिये और खानपुर नामक गांव में कन्याओं के लिये गुरुकुल की स्थापना की। उन दोनों संथाओं के लिये लाखों रुपया एकत्र किया। आप का वैयक्तिक जीवन भी शुद्ध, सरल और सात्विक था। आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में आने से पहले आप पटवारी का काम किया करते थे। उस समय आपने हजारों रुपये रिश्वत में लिये थे। आर्यसमाजी बन जाने पर आप को इस कार्य से घोर नफरत हो गई। और आपने यह नौकरी भी छोड़ दी तथा नौकरी के समय जिन-जिन से रिश्वत ली थी उन के रुपये भी वापिस कर दिये। उन के इस प्रकार के पवित्र और सात्विक जीवन के कारण ही लोग उन्हें भक्त जी कहने लग पड़े थे। अछूतोद्धार के कार्य में आप को बड़ी अभिरुचि थी। अछूत भाइयों को उनके अधिकार दिलाने के लिये आपने बड़े-बड़े कष्ट सहे। पांच-छः तो आपने इस कार्य के लिये लम्बे उपवास भी किये। इस प्रसंग में हिसार जिले के मोठ गांव में किया गया आप का उपवास तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इस गाँव के मुसलमान रांघड़ लोग वहां के हिन्दू अछूतों को अपने कुओं से तो पानी भरने ही नहीं देते थे, उन्हें अपने कुएं भी नहीं खोदने देते थे। अछूतों ने अपना कुआं खोदा तो रांघड़ों ने उसे मिट्टी से भर दिया। यह समाचार पाकर भक्त जी वहां पहुँचे। रांघड़ों को समझाया पर ये नहीं माने। इस पर भक्त जी ने उपवास आरम्भ कर दिया। चौबीस दिन तक उनका उपवास चला। तब कहीं जाकर गांव के लोगों के दिल पिघले और उन्होंने अछूतों के लिये पक्का कुआँ बनवा कर दिय … पवास की प्रशंसा

महात्मा गाँधी जी ने भी अपने हरिजन पत्र में की थी। हैदराबाद के आर्य सत्याग्रह में भक्त जी के प्रयत्न से हरियाणा प्रदेश के लगभग ७०० व्यक्तियों ने भाग लिया था और वहां से सत्याग्रह के लिये हज़ारों रुपया एकत्र हुआ था। लोहारू की मुस्लिम रियासत में आर्यसमाज के प्रचार पर पाबन्दी थी। आर्यसमाजियों ने लोहारू में आर्यसमाज का उत्सव करने का निश्चय किया और नगर कीर्तन निकाला। वहाँ की मुस्लिम पुलिस और जनता ने नगर कीर्तन पर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। नगर कीर्तन में भक्त फूलसिंह जी प्रमुख भाग ले रहे थे। उन को सख्त चोटें आईं। मार खा कर भी उन्होंने वहाँ आर्यसमाज का प्रचार किया और अपने अधिकारों की रक्षा की। भक्त जी के प्रचार कार्य से, विशेष कर उन के अछूतोद्धार सम्बन्धी कार्य से, अनेक लोग भक्त जी से नाराज़ रहने लगे थे। किसी असन्तुष्ट व्यक्ति ने १४ अगस्त १९४२ को रात को ९ बजे कन्या गुरुकुल खानपुर में उन्हें गोली मार दी। अपना सारा जीवन तो भक्त जी ने वैदिक धर्म पर न्यौछावर कर ही रखा था। अन्त में अपने प्राण भी उसी पर न्यौछावर कर दिये।

आर्यसमाज ने अपने ८७ साल के छोटे से जीवन में लगभग ७० बलिदान दिये हैं। उन सब बलिदानों की कथा स्थानाभाव के कारण यहां लिख सकना संभव नहीं है।

हैदराबाद का धर्म युद्ध

सन् १९३९ में आर्यसमाज की ओर से हैदराबाद रियासत में जो सत्याग्रह संग्राम लड़ा गया था उस के बलिदानों की कहानी ऊपर निर्दिष्ट बलिदानों से अलग है। वह सारा सत्याग्रह ही एक महान् बलिदान था। धर्म के इतिहास में वह सत्याग्रह एक अद्भुत कथा है। वह आर्यसमाज का अमर गौरव है। हैदराबाद रियासत की प्रजा में हिन्दुओं की संख्या कोई ९० प्रतिशत है। रियासत का राजा मुसलमान था। धर्मान्ध मुसलमानों को रियासत में हिन्दुओं की इतनी भारी संख्या सहन नहीं होती थी। वे हिन्दुओं की संख्या को कम करना चाहते थे। इस के लिये कई प्रकार के उपाय किये जाते रहे। आर्यसमाज का प्रचार मुसलमानों के मनसूबों में रुकावट डालता था। आर्यसमाज के प्रचार से जब हिन्दुओं को अपने सच्चे

धर्म का पता लग जाता था तो वे फिर मुसलमानों के बहकावे में नहीं आते थे। और जो भूल से मुसलमान हो गये थे वे फिर अपने धर्म में आ जाते थे। मुसलमान प्रचारकों को यह स्थिति असह्य प्रतीत हुई। उन्होंने आर्यसमाज के विरुद्ध राज्य के अधिकारियों के कान भरने आरम्भ कर दिये। मुस्लिम शासक मुल्लाओं के बहकावे में आ गये। उन्होंने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था समझ लिया। धीरे-धीरे राज्य की ओर से आर्यसमाज के काम में रुकावटें डाली जाने लगीं। अवस्था यहाँ तक आ गई कि आर्य-समाज के लिये अपने धर्म का प्रचार कर सकना सर्वथा असंभव हो गया। प्रचार तो दूर रहा आर्यसमाजियों के लिये अपने धार्मिक कृत्य और साप्ताहिक सत्संग कर सकना भी असंभव हो गया। राज्य की आज्ञा बिना न मन्दिर बन सकते थे, न अग्निहोत्र हो सकते थे. न मन्दिरों पर ओ३म् की ध्वजाएं लग सकती थीं। न वार्षिक उत्सव, न सत्संग और न कोई व्याख्यान हो सकते थे। ऐसा नियम कर देना ही आर्यसमाज के जन्मसिद्ध अधिकारों पर कुठाराघात था। इस पर विचित्र बात यह है कि मांगने पर राज्याधिकारी ऐसी आज्ञा नहीं देते थे। रियासत के आर्यसमाजी लोग सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में निरन्तर ६ साल तक चिट्ठी पत्री द्वारा तथा राज्याधिकारियों से मिलकर अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये यत्न करते रहे। पर राज्य की ओर से कोई सुनवाई न हुई।

अन्त में तंग आकर ३० जनवरी १६३६ के दिन महात्मा नारायण स्वामी जी की अध्यक्षता में आर्यसमाज के जन्मसिद्ध अधिकारों की रक्षा के लिये आर्यों की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत से आर्यों के दल के दल आकर रियासत में प्रविष्ट होने और वहां अपने धर्म का प्रचार करने लगे। रियासत के अधिकारियों ने इन आर्यवीरों को मारना पीटना और जेलों में ठूंसना शुरु कर दिया। जेलों में असह्य यन्त्रणायें दी जाने लगीं। घोर यन्त्रणायें सहकर भी आर्यवीर स्वयं शान्त रहते थे। किसी को कटुवचन तक भी न कहते थे। कष्ट सहते थे और राज्याधिकारियों को सद्बुद्धि देने के लिये भगवान् से प्रार्थना करते थे। इस समय प्रत्येक आर्यवीर ने ब्राह्मण वृत्ति धारण कर ली थी। सत्याग्रह संग्राम युद्ध ही ब्राह्मणों का है। सत्याग्रह का योद्धा प्रतिद्वन्द्वी पर प्रहार नहीं करता है। उस के प्रहार सहता है।

प्रहार सहकर अपने हृदय की सद्भावना और भगवान् से प्रार्थना द्वारा विरोधी के हृदय को जीतना चाहता है। इस युद्ध में आर्यवीरों ने ब्राह्मणत्व के इसी हथियार से काम लिया। राज्याधिकारियों द्वारा सत्याग्रही आर्यवीरों पर होने वाले अत्याचारों का समाचार सुनकर आर्यजनता भयभीत नहीं हुई। इन समाचारों से जनता में जोश, उत्साह और उमंग और अधिक बढ़ने लगे। रियासत में जाकर सत्याग्रह करने वाले आर्यवीरों के दलों का तांता बंध गया। आर्यसमाज के नेता, प्रचारक और सर्वसाधारण धड़ाधड़ सत्याग्रह के लिये जाने लगे। माताओं ने अपने पुत्रों को, पत्नियों ने अपने पतियों को और बहिनों ने अपने भाइयों को उन के माथे पर तिलक लगा और प्रेम का पाथेय देकर स्वयं सत्याग्रह के लिये प्रस्थापित किया। सत्याग्रही धर्मवीरों से रियासत की जेलें भर गईं। रियासत के लिये सत्याग्रहियों का संभालना भारी हो गया। उस के हाथ-पैर फूल गये। इस के साथ ही आर्यों के त्याग, तप, कष्ट सहिष्णुता और विशुद्ध धर्म प्रेम ने राज्याधिकारियों के हृदयों को हिलाना आरम्भ किया। उन्होंने स्थिति पर गम्भीरता से सोचना प्रारम्भ किया। उन्हें अपनी भूल पता चली। परमात्मा ने उन के हृदयों में बल दिया। उन्होंने आर्यसमाज के धर्म प्रचार के जन्मसिद्ध अधिकार को उसे फिर से देकर अपनी भूल सुधारने का निश्चय कर लिया। १६ जुलाई को रियासत की सरकार ने इस सम्बन्ध में अपनी घोषणा प्रकाशित कर दी। इस घोषणा की शब्द रचना से आर्यसमाज सन्तुष्ट न हुआ। सत्याग्रह अबाध गति से चलता रहा। पुनः ८ अगस्त को राज्याधिकारियों की ओर से १६ जुलाई की घोषणा का और अधिक स्पष्टीकरण किया गया। इस स्पष्टीकरण से आर्यसमाज का सन्तोष हो गया और उसी ८ अगस्त के दिन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सत्याग्रह समाप्त करने की घोषणा कर दी। और इस प्रकार आर्यों के धर्मप्रेम और तज्जन्य तप, त्याग और कष्ट सहिष्णुता ने अधर्म और अत्याचार पर विजय प्राप्त की।

मुट्ठी भर आर्य समाजियों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए इस सत्याग्रह के समय जिस आत्मत्याग और बलिदान की भावना का परिचय दिया था उससे सब देखने वाले स्तम्भित रह गये थे। ८ अगस्त तक १०५७६ सत्याग्रही जेलों में जा चुके थे। इसके अतिरिक्त कोई ३००० सत्याग्रही

उस समय भिन्न-भिन्न केन्द्रों में कूच करने के लिए तैयार बैठे थे। और नये सत्याग्रही धड़ाधड़ भर्ती हो रहे थे। जो सहसा सत्याग्रह के बन्द हो जाने के कारण जेलों में न जा सके। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सत्याग्रह का स्थान सत्याग्रहियों के अपने नगरों के समीप न था। सत्याग्रहियों के अपने नगरों से वह स्थान सैकड़ों और हजारों मील दूर था। सत्याग्रहियों को हजार-हजार, डेढ़-डेढ़ हजार मील तक चलकर सत्याग्रह के स्थान में पहुँचना होता था। इससे सत्याग्रह के संचालन और उसके प्रबन्ध की कठिनाइयों का अनुमान सहज ही किया जा सकता है! इस सत्याग्रह में आर्यसमाज को ११ लाख रुपये खर्च करने पड़े थे।

इस सत्याग्रह में राज्य अधिकारियों के हाथों आर्यवीरों ने जो घोर कष्ट सहे उनकी कथा यहां लिखना सम्भव नहीं है। कोई ऐसा कष्ट नहीं था जो सत्याग्रहियों को न दिया गया हो। उनके रहने के स्थान मैले से मैले थे। उन्हें भोजन खराब से खराब और अव्यवस्थित रूप में दिया जाता था। चक्की पिसवाने और पत्थर कुटवाने जैसे घोर परिश्रम के काम उनसे लिए जाते थे। अनेक अवस्थाओं में सत्याग्रहियों को भयंकर रूप में मारा और पीटा जाता था। नंगा करके उनके शरीरों पर कई-कई दर्जन बेंत भी अनेक अवस्थाओं में लगाये जाते थे। रोगी हो जाने पर औषधोपचार की कोई समुचित व्यवस्था न थी। और भी अनेक प्रकार के कष्ट सत्याग्रहियों को रियासत की जेलों में सहने पड़ते थे। और यह सब कुछ उन्हें सहना पड़ता था अपने धर्म-प्रेम के कारण। धर्म-प्रेम के अतिरिक्त आर्यवीरों का कोई और दूसरा अपराध न था।

इन अमानुषिक अत्याचारों के कारण २८ सत्याग्रहियों का रियासत की जेलों में ही प्राणान्त हो गया। इन २८ बलिदानों में से एक-एक की कहानी रोमांचकारिणी है। स्थानाभाव से हमें इन कहानियों के लिखने के लोभ का संवरण करना पड़ता है।

यहां केवल हुतात्मा श्री श्यामलाल जी के बलिदान का ही कुछ पंक्तियों में निर्देश कर देना पर्याप्त होगा। श्री श्यामलाल जी हैदराबाद राज्य के सबसे अधिक उत्साही, निर्भय और लगन वाले आर्यसामाजिक कार्यकर्ता थे। उन्हें हैदराबाद राज्य की आर्यसमाज के प्राण कह दिया जाये तो भी अत्युक्ति न होगी। वे अपनी समग्रशक्ति से उस प्रदेश में आर्य समाज

के प्रचार में लगे हुए थे। तथा उनमें ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति असीम प्रेम था। उनमें आर्यसमाज के प्रचार के लिये लगन और उत्साह की प्रचण्ड ज्वाला जलती थी। योग्य वकील होते हुए भी उनमें धन कमाने की लालसा नहीं थी। वे अपनी वकालत के काम की ओर बहुत कम ध्यान देते थे। सारा समय आर्यसमाज के काम में ही व्यस्त रहते थे। उन्होंने हैदराबाद राज्य के नगर-नगर और गांव-गांव की यात्राएं की थीं और स्थान-स्थान पर आर्य समाजों की स्थापना की थी। हैदराबाद राज्य में आर्य समाजों का जाल सा बिछ गया था। आर्य समाजों की संख्या डेढ़ दो सौ तक पहुंच जाने पर उन्हीं के प्रयत्न से हैदराबाद राज्य की आर्यप्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई थी। वे इस प्रतिनिधि सभा के पहले प्रधान और और मन्त्री रहे थे। उन के आर्य समाज के प्रचार की इन गतिविधियों को देख कर निजाम सरकार और वहां के मुसलमान उनके घोर द्वेषी और शत्रु बन गये थे और उनके प्राणों के प्यासे रहने लगे थे। हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज की बढ़ती हुई प्रचण्ड शक्ति से वहां की मुस्लिम सरकारें और मौलवी लोग कांप उठे थे। और उन्होंने आर्यसमाज को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था। जिसके विरोध में आर्यसमाज ने ऊपर की पंक्तियों में वर्णित सत्याग्रह का युद्ध लड़ा था। निजाम सरकार को कंपा देने वाली आर्यसमाज की यह शक्ति श्री श्यामलाल जी और उनके साथियों की ही पैदा की हुई थी। श्यामलाल जी को अनेक कष्ट दिये गये और उन पर अनेक बार झूठे मुकदमे चलाये गये। फिर भी श्यामलाल जी निर्भय हो कर अपना काम करते रहे। उन्होंने अपने भाषणों से जनता में आग भर दी और उसे निडर बना डाला। सैकड़ों और हज़ारों लोग उनके साथ मिल कर काम करने के लिये आगे आ गये। राज्य का मुस्लिम सरकार इससे और डरी। पुनः एक झूठा मुकदमा उनके विरुद्ध बनाया गया और उन्हें जेल में डाल दिया गया। श्यामलाल जी का शरीर प्रारम्भ से ही दुर्बल था और प्रायः रोगी रहा करते थे। दवाइयों का सेवन चलता रहता था और वे भोजन के रूप में प्रायः दुग्ध ही लिया करते थे। जब उन्हें अब अन्तिम बार बीदर की जेल में डाला गया तो उनके स्वास्थ्य की इसी प्रकार की हीन अवस्था थी। जेल के अधिकारियों ने उनके इस प्रकार के दुर्बल स्वास्थ्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। औषधोपचार भी ठीक नहीं हुआ और उन्हें दूध देना भी बन्द कर दिया गया। इस सम्बन्ध में उनके निवेदनों और

शिकायतों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उन्हें रेत और कंकड़ मिली हुई ज्वार-बाजरे की अधपकी रोटियां खाने को दी गईं जिन्हें उनका दुर्बल हाज़मा बरदाश्त नहीं कर सकता था। उन्हें जेल में और भी अनेक प्रकार की यन्त्रणाएँ दी गईं। उन्हें मारा और पीटा भी गया। तेज़ चाकू और छुरियों से उन्हें घायल भी किया गया। इस प्रकार की अमानुषी यन्त्रणाएं सहते हुए वे १६ दिसम्बर १६३८ को अमर पद को प्राप्त हो गये। और आर्यसमाज के इतिहास में सदा चमकता रहने वाला बलिदान का उदाहरण उपस्थित कर गये।

इतना भारी बलिदान करके आर्यसमाज ने हैदराबाद के धर्मयुद्ध में विजय प्राप्त की थी।

हिन्दी को देन

ऋषि दयानन्द की दृष्टि दिव्य थी। वे अपनी अलौकिक प्रतिभा से बहुत दूर की बातों को देख लेते थे। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और वे संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। फिर भी उन्होंने अपने प्रायः सभी ग्रंथ हिन्दी में लिखे। जो ग्रंथ उन्होंने संस्कृत में लिखे उनका भी हिन्दी अनुवाद साथ दिया। उन्होंने देख लिया था कि भले ही राज-भाषा अंग्रेजी हो, देश में सर्व साधारण को पारस्परिक व्यवहारिक और सम्पर्क की भाषा तो हिन्दी ही है। उसी के आधार पर देश की सर्व साधारण जनता कन्याकुमारी और रामेश्वरम् से अमरनाथ तक की तथा सोमनाथ और द्वारिका से जगन्नाथ तक की, सारे देश की, यात्रायें करती रहती है। इसी के आधार पर देश के किसी भी भाग के व्यापारी उसके किसी भी दूसरे भाग में जाकर अपना व्यापार-व्यवसाय कर लेते हैं। हिन्दी की इस व्यापकता को देख कर जहां अपने विचारों के प्रसार की दृष्टि से ऋषि ने अपने ग्रंथ हिन्दी में लिखे वहां उन्होंने दिव्य दृष्टि से यह भी देख लिया था कि आगे चलकर देश की राजभाषा हिन्दी ही बनेगी। इसी लिये उन्होंने आर्य समाजियों के लिये हिन्दी सीखना एक आवश्यक कर्तव्य रखा था। ऋषि हिन्दी को आर्य भाषा कहा करते थे। प्रत्येक आर्य समाजी को आर्यभाषा सीखनी चाहिए यह ऋषि का आदेश था।

इसीलिये हिन्दी आर्यसमाजियों के लिये प्रारम्भ से ही एक आदरणीय

भाषा रही है। आर्यसमाजी प्रारम्भ से ही हिन्दी सीखते रहे हैं। आर्यसमाजों के उत्सव, कथा-वार्ता, और सत्संग सब आरम्भ से ही हिन्दी में ही होते रहे हैं। पंजाब के पश्चिमी भाग में लोगों की घरेलू बोल-चाल की भाषा पंजाबी रही है। फिर भी वहां के आर्यसमाजों के उत्सव, कथा-वार्ता और सत्संग हिन्दी में ही होते रहे हैं। विधर्मियों से आर्यसमाजियों के शास्त्रार्थ तक भी वहां हिन्दी में ही होते रहे हैं। इतना ही नहीं वहां की प्रायः प्रत्येक आर्यसमाज ने एक-एक कन्याओं का स्कूल चला रखा था। इन सब स्कूलों में हिन्दी के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी। वहां के डी. ए. वी. स्कूल और कालेजों में भी हिन्दी पढ़ाई जाती थी। सतासी (८७) वर्ष पूर्व अपने जन्मकाल से ही पंजाब के आर्यसमाजियों ने इस प्रकार हिन्दी को अपना रखा था। उसी समय से वहां के सनातनी हिन्दू भाइयों ने भी हिन्दी को इसी प्रकार अपना रखा था। उन के उत्सव, कथा-वार्ता और सत्संग भी सब हिन्दी में ही होते रहे हैं। उन की कन्या पाठशालाओं में भी सदा हिन्दी के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती रही है। उन के स्कूल और कालेजों में भी हिन्दी सदा ही पढ़ाई जाती रही है। हिन्दुओं की धार्मिक कथा-वार्ता और प्रवचन तो न जाने कितने पुराने समय से हिन्दी में ही होते रहे हैं। आर्यसमाजियों और हिन्दुओं के शिक्षणालयों में पंजाबी के माध्यम से तो कभी शिक्षा दी ही नहीं गई, एक भाषा के रूप में भी कभी उन में पंजाबी नहीं पढ़ाई गई। पंजाब के हिन्दू राज-भाषा होने के कारण उर्दू और अंग्रेज़ी तो पढ़ते रहे हैं, किन्तु पंजाबी पढ़ने का प्रचलन उन में नहीं था। पंजाब के हिन्दू पंजाबी को हिन्दी की ही एक अपभ्रंश बोली समझते रहे हैं जो कि घरेलू बोल-चाल में काम आती है। वे अपनी शिक्षा की भाषा हिन्दी को ही मानते रहे हैं और उनका सदा यह प्रयत्न और इच्छा रही है कि शिक्षा की भाषा बनने के साथ-साथ हिन्दी राज-काज की भाषा भी बन जावे।

अंग्रेजी शासनकाल में तो शिक्षा की भाषा अंग्रेजी थी और राजकाज की भाषा उर्दू और अंग्रेजी थी। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर प्रश्न उठा कि पंजाब में शिक्षा और राजकाज की भाषा कौन हो। हिन्दुओं की इच्छा थी कि क्योंकि समूचे पंजाब में हिन्दुओं की संख्या ७० प्रतिशत है और वे हिन्दी को अपनी भाषा मानते हैं इस लिये पंजाब की शिक्षा और राजकाज की भाषा हिन्दी होनी चाहिये। पंजाब के जिस पश्चिमी भाग में घरेलू

बोल-चाल की भाषा पंजाबी है वहां सिखों की संख्या हिन्दुओं से कुछ थोड़ी सी अधिक है। सिखों ने यह मांग की कि पंजाब के इस भाग की शिक्षा और राजकाज की भाषा पंजाबी होनी चाहिये। वास्तव में तो सिख चाहते हैं कि पंजाब के इस भाग को पंजाबी सूबा के नाम से एक पृथक् राज्य या प्रांत ही बना दिया जाना चाहिये। पंजाबी सूब की उनकी मांग का विरोध हिन्दू तो करते ही हैं सरकार ने भी अभी तक उन की इस मांग को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु इस भाग में पंजाबी भाषा को शिक्षा और राजकाज की भाषा बना देने की उन की मांग को सरकार ने स्वीकार कर लिया है। सरकार ने यह सूत्र बनाया है कि पंजाब के पंजाबी-भाषा भाग में प्रारम्भ से शिक्षा का माध्यम गुरुमुखी लिपि में लिखी पंजाबी होगी और पांचवीं कक्षा से हिन्दी भी एक आवश्यक विषय के रूप में पढ़ाई जायेगी। तथा जिला स्तर तक राजकाज की भाषा भी गुरुमुखी लिपि में लिखी हुई पंजाबी ही होगी। दूसरी ओर पंजाब के हिन्दी-भाषी भाग में प्रारम्भ से शिक्षा का माध्यम देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी होगी और पांचवीं कक्षा से पंजाबी भी एक आवश्यक विषय के रूप में पढ़ाई जायेगी तथा जिला स्तर तक राजकाज की भाषा भी हिन्दी ही होगी। विश्वविद्यालय की शिक्षा के माध्यम के विषय में तथा जिलास्तर से ऊपर के राजकाज की भाषा और हाईकोर्ट की भाषा के विषय में अभी तक सरकार ने कोई निश्चय नहीं किया है। इन स्तरों पर दुर्भाग्य से अभी अंग्रेजी ही चलती है। परन्तु भय है कि प्रारम्भिक शिक्षा के माध्यम की तथा जिला स्तर तक के राजकाज की भाषा के सम्बन्ध में जिस प्रकार का निश्चय किया गया है उसी प्रकार का निश्चय आगे चलकर ऊपर के स्तरों के सम्बन्ध में भी किया जायेगा।

सिख भाइयों के पंजाबी के प्रति प्रेम और आग्रह को ध्यान में रखते हुए हिन्दुओं ने अपनी मांग यह रखी कि सारे पंजाब में हिन्दी और पंजाबी दोनों भाषायें समान रूप में चलें। शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को स्वतन्त्रता रहे कि वे दोनों में से जिसे चाहें उस भाषा को अपनी शिक्षा का माध्यम चुन लें, राजकाज में दोनों भाषाओं के प्रयोग की स्वतन्त्रता हो, जो लोग सरकारी नौकरियों में जायें उन के लिये दोनों भाषाओं में से जिसे वे न जानते हों उस का सीखना आवश्यक हो। हिन्दुओं की यह मांग है कि पंजाबी के लिये गुरुमुखी लिपि में ही लिखी जाने का प्रतिबन्ध न हो।

हिन्दुओं का कहना है कि पंजाबी की लिपि कभी भी एकमात्र गुरुमुखी ही नहीं रही। अंग्रेज़ी शासन काल में पंजाबी को देवनागरी, फारसी (उर्दू) और गुरुमुखी किसी भी लिपि में लिख सकने की स्वतन्त्रता थी। अब भी पंजाबी को नागरी में लिखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। पंजाब के हिन्दू पंजाबी को हिन्दी की ही एक बोली मानते हैं जिस का वे घरेलू बातचीत में प्रयोग करते हैं। वे अपनी शिक्षा की और राजकाज की भाषा उसे नहीं बनाना चाहते। वे अपनी शिक्षा और राजकाज की भाषा हिन्दी को ही बनाना चाहते हैं। उत्तर प्रदेश बिहार और राजस्थान में व्रजभाषा, अवधी, मागधी और राजस्थानी आदि बोलियां बोली जाती हैं। फिर भी इन प्रान्तों में शिक्षा और राजकाज की भाषा हिन्दी स्वीकार की गई है। क्योंकि इन बोलियों को हिन्दी की ही बोलियां समझा जाता है। प्रांत और देश की एकता की दृष्टि से हिन्दी की इन विभिन्न बोलियों को शिक्षा और राजकाज की भाषा न बना कर समाचार पत्रों और साहित्यिक रचनाओं में लिखी जाने वाली हिन्दी को ही इन प्रान्तों में शिक्षा और राजकाज की भाषा स्वीकार किया गया है। पंजाब के हिन्दू कहते हैं कि पंजाबी भी हिन्दी की एक बोली है। इस बोली को शिक्षा और राजकाज की भाषा न बना कर हिन्दी को ही शिक्षा और राजकाज की भाषा बनाना चाहिये। जहां पंजाब के हिन्दुओं का ध्यान रखते हुए ऐसा किया जाना चाहिये वहां देश की एकता की दृष्टि से भी ऐसा करना उचित है। यदि सिख भाई पंजाबी को अपनी शिक्षा की और राजकाज की भाषा बनाना चाहते हैं तो उन के लिये वैसा कर दिया जाये। पर हिन्दुओं की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा और राजकाज के लिये उन पर पंजाबी ज़बरदस्ती नहीं थोपी जानी चाहिये। यह हिन्दुओं का जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वे जिस भाषा को चाहें उसे अपनी शिक्षा की और राजकाज की भाषा बना सकें। सिखों की जिद और दुराग्रह को पूरा करने के लिये हिन्दुओं का यह अधिकार छीन कर उन पर ज़बरदस्ती पंजाबी नहीं थोपी जानी चाहिये। हिन्दू सिखों को चिढ़ाने के लिये हिन्दी की मांग नहीं कर रहे हैं। पंजाब के आर्यों और हिन्दुओं की हिन्दी के प्रति निष्ठा तो देश के स्वतन्त्र होने से भी बहुत पहले से, अंग्रेज़ी शासन के समय से ही लगभग सौ साल से चली आ रही है। वास्तव में तो इस से भी बहुत अधिक पहले से पंजाब के हिन्दु हिन्दी को अपनाते रहे और उसे अपनी भाषा मानते रहे हैं। अब तो देश के नये विधान में हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार कर लिया

गया है । यदि पंजाब के हिन्दु देश की राजभाषा को अपनी शिक्षा की और राजकाज की भाषा बनाना चाहते हैं तो इस में सरकार के और किसी दूसरे के नाराज़ होने की कौन सी बात है ? उलटा हिन्दुओं की इस मांग से तो सरकार को प्रसन्न ही होनी चाहिये कि पंजाब के हिन्दू देशकी राज-भाषा को ही अपनी भाषा बनाकर देशकी एकता को मज़बूत करना चाहते हैं । हिंदुओं की जो मांग है उससे हिन्दुओं के अधिकारों और भावनाओं की रक्षा होती है और सिखों के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं होता । सिख पंजाबी को अपनी शिक्षा की और राजकाज की भाषा बनाने के लिये स्वतन्त्र हैं। परन्तु सिखों की यह मांग कि पंजाब के पश्चिमी भाग के हिन्दुओं की भी शिक्षा और राज-काज की भाषा पंजाबी ही होनी चाहिये तथा पूर्वी भाग के हिन्दुओं के बालकों को भी शिक्षणालयों में गुरुमुखी लिपि और पंजाबी भाषा बाधित रूप में पढ़ाई जानी चाहिये हिन्दुओं के साथ अन्याय करती है और उन के अधिकारों का हनन करती है । हिन्दुओं की मांग में हिन्दु और सिख दोनों के लिये ऐच्छिकता है । सिखों की मांग में हिन्दुओं पर बन्धन है ।

परन्तु पंजाब के हिन्दुओं के दुर्भाग्य से हमारे देश की कांग्रेस सरकार ने सिखों की यह अन्यायपूर्ण मांग स्वीकार कर ली है और पंजाब के हिन्दी प्रदेश और पंजाबी प्रदेश इस प्रकार दो भाग बना कर ऊपर उल्लिखित सूत्र भाषा के सम्बन्ध में बना दिया है। और इस सूत्र के अनुसार सरकार क्रियात्मक कार्यवाही भी करने जा रही है। यद्यपि सारे पंजाब में ही हिन्दी बोली और समझी जाती है तथा पंजाब के ७० प्रतिशत हिन्दुओं की भावनायें हिन्दी के साथ जुड़ी हुई हैं तो भी सिखों के अनुचित दबाव में आकर सरकार हिन्दुओं के साथ अन्याय कर रही है और उन की भावनाओं को कुचल रही है ।

पंजाब के आर्यसमाजियों और हिन्दुओं ने सरकार से बार-बार आग्रह किया कि वह सिखों की अन्यायपूर्ण मांग के आगे दब कर हिन्दुओं के साथ अन्याय न करे । आर्यसमाज ने हिन्दुओं के इस आन्दोलन का नेतृत्व संभाला । आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब इन दोनों सभाओं ने मिलकर पंजाब हिन्दी रक्षा समिति का निर्माण किया । आर्यसमाज से बाहर के लोगों का भी सहयोग लिया गया । आन्दोलन चलता रहा । समाचारपत्रों में चर्चा चलती रही और स्थान-स्थान पर सभा-

सम्मेलन होते रहे जिन में सरकार की नीति की आलोचना होती रही, उस के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार किये जाते रहे। हज़ारों की संख्या में स्वीकृत किये गये ये प्रस्ताव प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के पास भेजे गये। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों से अनेक शिष्टमण्डल (डेपुटेशन) मिले। हिन्दुओं का का दृष्टिकोण विस्तार से सरकार के सम्मुख रखा गया। पर इन सब प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकला। हिन्दुओं की न्यायोचित मांगें स्वीकार नहीं की गईं। सिखों के दबाव में आकर सरकार हिन्दुओं के साथ अन्याय करने के अपने निश्चय पर दृढ़ रही। तब यह सारी परिस्थिति आर्यों की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के सम्मुख रखी गई। उक्त सभा ने भी एक सार्वदेशिक हिन्दी रक्षा समिति बनाई और उसका नेतृत्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त को सौंपा। गुप्त जी ने भी सरकार के विचारों को बदलने का बहुत प्रयत्न किया। वे अनेक बार प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों से मिले। उनके आगे आर्यों और हिन्दुओं का दृष्टिकोण स्पष्टता के साथ रखा। गुप्त जी इस प्रसंग में नेहरू जी और राष्ट्रपति राजेन्द्र-प्रसाद जी से भी अनेक बार मिले। उन के इन प्रयत्नों का भी कोई परिणाम नहीं निकला। सिखों की अन्यायपूर्ण मांगों को स्वीकार करके हिन्दुओं के साथ न्याय न करने के अपने निश्चय पर सरकार यथापूर्वक स्थिर रहा।

हिन्दी रक्षा अन्दोलन

जब कई वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् भी सरकार आर्यों और हिन्दुओं के हिन्दी सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करने के लिये तैयार नहीं हुई तो आर्यसमाज के लिये इस के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया कि वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सब प्रकार का बलिदान करने के लिये उद्यत हो जाये। इस परिस्थिति में श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त के नेतृत्व में सार्वदेशिक हिन्दी रक्षा समिति ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया। सत्याग्रह की घोषणा होते ही आर्यसमाजों में सत्याग्रह में भाग लेने के लिये उद्यत आर्यवीरों के नाम लिखे जाने लगे और धन संग्रह होने लगा। आर्यपुरुष अपने आदर्शों और अधिकारों की रक्षा के लिये सदा तैयार रहते ही हैं। बात की बात में हज़ारों आर्यवीरों ने सत्याग्रह के लिये अपने नाम लिखा दिये और थोड़े ही समय में इस के लिये लाखों रुपया एकत्र हो गया। जून १९५७

में सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया गया। आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री स्वामी आत्मानन्द जी के नेतृत्व में पहला जत्था सत्याग्रह के लिये चण्डीगढ़ गया। फिर तो एक के बाद एक जत्थे जाने प्रारम्भ हो गये। शुरू में तो सरकार सत्याग्रहियों को जेल में न भेजकर लारियों में बिठा कर किसी निर्जन स्थान में छोड़ देती थी। सरकार सोचती थी कि इस से सत्याग्रही तंग आ जायेगें और उन का उत्साह मन्द पड़ जायेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। सत्याग्रहियों के दल के दल निरन्तर आते रहे। तब सरकार सत्याग्रहियों को जेलों में भेजने लगी। जेलों में जाने और वहां के कष्ट सहने के लिये भी सत्याग्रहियों के दल के दल आते रहे। आर्यसमाज के महाशय कृष्ण जी, श्री बुद्ध देव जी विद्यालंकार, श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती और श्री वीरेन्द्र जी, श्री स्वामी रामेश्वरानन्द जी और श्री आनन्दभिक्षु जी आदि अनेक प्रसिद्ध नेता भी जेल में गये और वहां की यंत्रणायें सहीं। श्री स्वामी आनन्दभिक्षु जी को तो जेल में अग्निहोत्र करने के अपने अधिकार की रक्षा के लिये लगभग दो मास तक अनशन व्रत भी करना पड़ा था। सारे भारत की आर्यसमाजों ने अपने यहां से आर्यवीरों के दल इस सत्याग्रह में भाग लेने के लिये भेजे। पंजाब के हिन्दी भाषी प्रदेश हरियाणा के आर्यों ने इस सत्याग्रह में सब से अधिक संख्या में भाग लिया। उस प्रदेश के प्रसिद्ध नेता श्री आचार्य भगवान देव जी सत्याग्रह को सफल बनाने के लिये जी जान से जुट गये। वे अन्तर्हित हो गये और इस अन्तर्हित अवस्था में उन्होंने हरियाणा के गांव का दौरा किया और लोगों को सत्याग्रह में जाने तथा उस के लिये धन देने के लिये प्रेरित किया। उन के प्रचार से सारे हरियाणा में सत्याग्रह के लिये उत्साह की असीम लहर दौड़ गई। इस का परिणाम स्वरूप उस छोटे से प्रदेश से ३-४ हज़ार सत्याग्रही जेलों में गये और वहां से धन भी पुष्कलमात्रा में एकत्र हुआ। सत्याग्रहियों को जेलों में अवर्णनीय कष्ट दिये गये। भोजन अच्छा न मिलना तो साधारण बात थी। उन्हें और भी अनेक प्रकार के कष्ट दिये गये। साधारण सी बातों पर उन्हें पीटा जाता था। फिरोज़पुर की जेल में सत्याग्रहियों को जिस बुरी तरह पीटा गया था वह तो इस सत्याग्रह में सरकार द्वारा किये गये नृशंस कृत्यों में सब से अधिक नृशंस कृत्य था और सरकार के नाम पर कभी न मिटने वाला धब्बा था। उस जेल के अधिकारियों ने जेल के चोरी, डकैती और हत्या आदि के अपराधों

में दण्ड-भोगी कैदियों द्वारा आर्यसत्याग्रहियों को जिन की संख्या उस जेल में ३००-४०० के लगभग थी, बहुत बुरी तरह पिटवाया था। जेल के अधिकारियों द्वारा उकसाये हुए ये पुराने अपराधी कैदी आर्यसत्याग्रहियों पर अचानक टूट पड़े थे। सभी सत्याग्रहियों को सख्त चोटें आई थीं। कितनों को बहुत भयंकर चोटें लगीं थीं। कइयों के आंख, हाथ और दूसरे अंग जीवन भर के लिये खराब हो गये। हरियाणा का वीर सत्याग्रही सुमेरसिंह तो इतना अधिक पीटा गया कि उस की उसी समय मृत्यु हो गई और वह अपने धर्म और अधिकारों की वेदी पर बलि हो गया। पठानकोट का वीर सत्याग्रही सत्यपाल भी इतना पीटा गया कि इन चोटों के कारण जेल से छूटने पर घर पहुंचते ही उस का भी प्राणान्त हो गया और इस प्रकार वह भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिये बलिदान हो गया।

सत्याग्रहियों को दिये जा रहे इन कष्टों की कहानियों को सुनकर आर्य जनता का जोश और उमड़ पड़ता था। जेल जाने के लिये सत्याग्रहियों के और दल के दल आने लगते थे। सत्याग्रह की इस तीव्र गति और उस के लिये आर्यों और हिन्दुओं के निरन्तर बढ़ रहे उत्साह तथा बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिये उद्यत रहने की भावना को देखकर सरकार चिन्तित हो उठी। उस ने कहना शुरू कर दिया कि श्री स्वामी आत्मानन्द जी और श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त के पत्रों के उत्तर में सरकार जो कुछ कह चुकी है उस में हिन्दुओं की बहुत सी बातें मान ली गई हैं और शेष के लिये शान्ति से बातचीत हो सकती है, सत्याग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है और उसे बन्द कर देना ही सब के हितों में है। नेहरू जी ने तो यहां तक कह दिया कि आर्यों की ९० प्रतिशत मांगे मानी जा चुकी हैं शेष १० प्रतिशत मांगें भी बातचीत से निपटाई जा सकती हैं, ऐसी स्थिति में सत्याग्रह की आवश्यकता नहीं रह जाती। भारत सरकार के गृहमंत्री पं० पन्त जी ने भी अपने भाषणों में तथा श्री गुप्त जी से बातचीत में आश्वासन दिया कि यदि सत्याग्रह बन्द कर दिया जाये तो हिन्दी रक्षा समिति की मांगों पर अत्यन्त सहानुभूति के साथ विचार किया जायेगा। अपनी सरकार को व्यर्थ में परेशान करना आर्यसमाज का कभी भी लक्ष्य नहीं था। नेहरू जी और पन्त जी के इन आश्वासनों से प्रभावित होकर श्री गुप्त जी ने रक्षा समिति से परामर्श करके २६ दिसम्बर १९५७ को सत्याग्रह बन्द कर दिया। जिस समय सत्याग्रह बन्द

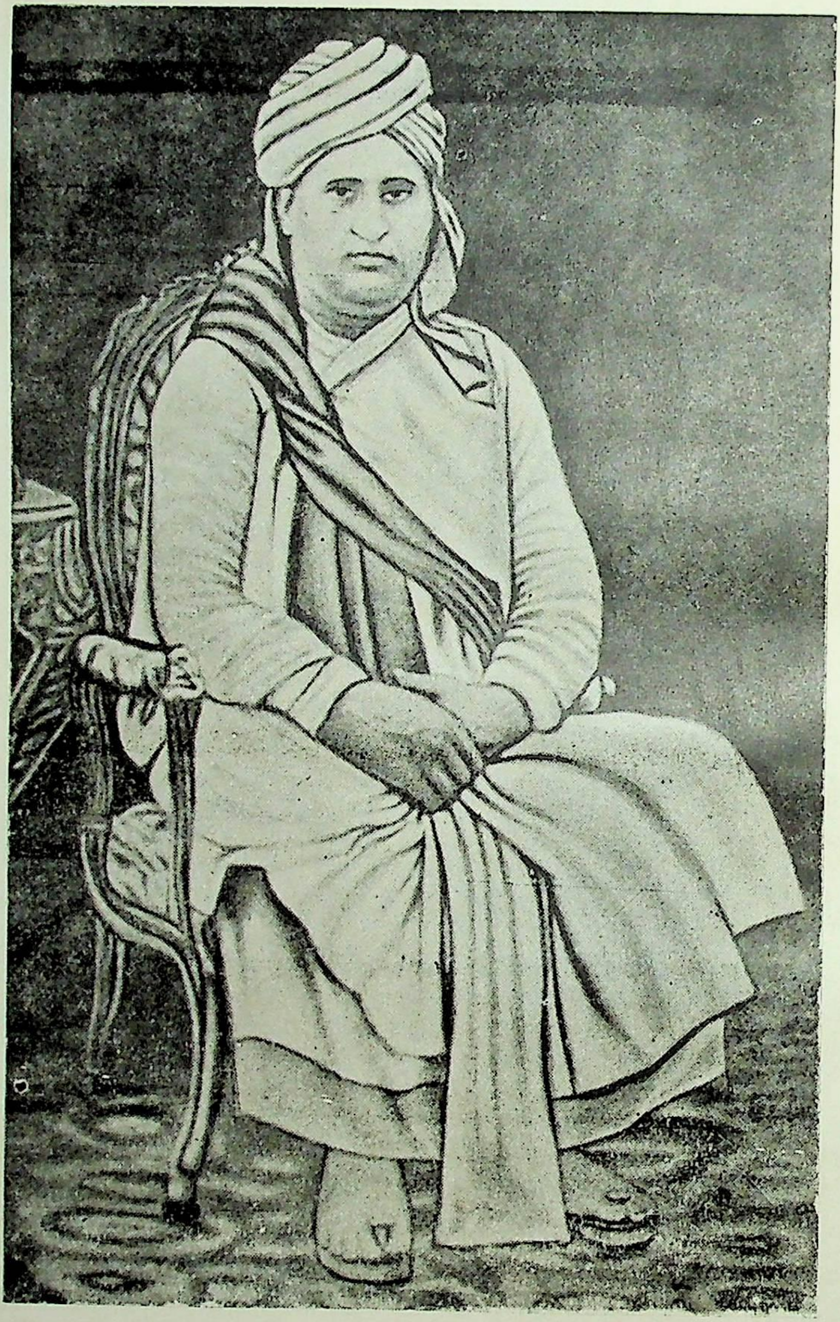
किया गया उस समय यक १४-१५ हज़ार सत्याग्रही जेलों में जा चुके थे। जिन सत्याग्रहियों ने सत्याग्रह के लिये अपने आप को पेश किया परन्तु उन्हें कैद नहीं किया गया उन की संख्या को मिलाकर सत्याग्रहियों की संख्या लगभग २०-२५ हज़ार तक पहुंच चुकी थी। और नये-नये सत्याग्रहियों के दल के दल आ रहे थे। इस सत्याग्रह के संचालन में आर्यसमाज ने लाखों रुपया व्यय किया। भिन्न-भिन्न प्रकार की यन्त्रणायें सहने के कारण इस सत्याग्रह के प्रसंग में लगभग १८ सत्याग्रहियों का प्राणान्त हुआ। इन में से आठ-दस सत्याग्रही तो वे थे जिन का सत्याग्रह की सफल समाप्ति पर जेल से लौटते हुए अम्बाला के पास मोहरी स्टेशन पर रेल दुर्घटना में प्राणान्त हुआ था। अनेक सत्याग्रहियों पर भारी जुर्माने भी हुए थे और इन जुर्मानों को वसूल करने के लिये उनकी ज़मीन-जायदाद और दूसरी सम्पत्ति कुड़क कर ली गई थी। यह दण्ड अधिकांश में हरियाणा के सत्याग्रहियों को दिया गया था। इतना भारी बलिदान आर्यसमाज ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिये इस सत्याग्रह में दिया था।

आर्यसमाज के आत्मत्याग और बलिदानों की परम्परा के इतिहास में उस के द्वारा किया गया पंजाब का यह हिन्दी सत्याग्रह भी उसके बलिदानों की अमर कहानी रहेगा।

प्रगति की ओर

आर्यसमाज में यह जो आत्मत्याग और बलिदान की भावना है, आर्यसमाज इस प्रकार भारी से भारी त्याग करके जो लोक-सेवा का कार्य करता रहता है, उस से वह जनता में सर्वप्रिय हो गया है। आर्यसमाज स्थापना-काल से लेकर अब तक प्रति दसवें वर्ष में आर्यसमाजियों की संख्या दुगनी हो जाती रही है। १९३१की जनसंख्या (जनगणना) में आर्यसमाजियों की संख्या ९९०२३३ थी। १९४० की गणना में आर्यों की संख्या पिछली गणना से चौगुनी हो गई थी। इस समय भारतवर्ष में संगठित आर्य-समाजों की संख्या ३००० के लगभग है। इसके अतिरिक्त बरमा, अफ्रीका, बगदाद, फिजी आदि देशों में भी दर्जनों आर्यसमाजें हैं। ८७ साल के थोड़े से समय में आर्यसमाज की उन्नति बड़ी सन्तोषप्रद है। इससे आर्यसमाज

की भारी लोकप्रियता सूचित होती है। इस जन-प्रियता का कारण आर्यसमाज की लोक-सेवा और उसके आत्म-बलिदान हैं। यदि आर्यसमाज इसी प्रकार लोक-सेवा और आत्म-बलिदान के धर्मयुक्त मार्ग पर चलता रहा तो वह निःसंशय एक दिन सारे विश्व को वैदिकधर्म की दीक्षा देने के अपने स्वप्न को चरितार्थ करने में सफल होगा। प्रभु करे वह अपने मार्ग पर अक्षुण्ण चलता रहे।



युग-प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती

महर्षि दयानन्द सरस्वती

जीवन और कार्य

'महर्षि दयानन्द'

स्वामी दयानन्द का जन्म सन् १८२३ में सामवेदीय औदीच्य ब्राह्मण परिवार में टंकारा ग्राम, काठियावाड़ में हुआ। दयानन्द कर्षन लाल तिवारी के सबसे बड़े पुत्र थे। उनका नाम मूलशंकर रखा गया था। उन्हें दयाल जी भी कहते थे। कर्षन जी के और भी दो लड़के और दो लड़कियां थीं।

कर्षन जी धनाढ्य जमींदार थे और साहूकारा भी करते थे। वे सरकारी अफसर भी थे। वे शैव थे और मूलशंकर को शिव की पूजा सिखाई गई। मूल शंकर का पालन शुद्ध सनातन तरीके से हुआ। पांच साल की अवस्था में मूलशंकर ने देवनागरी सीख ली थी और कई धार्मिक पुस्तकें कण्ठस्थ कर ली थीं। आठ साल की अवस्था में उन्होंने यज्ञोपवीत धारण किया। उन्हें गायत्री मंत्र और संध्या सिखाई गई। उन्होंने रुद्राध्याय और यजुर्वेद संहिता भी कण्ठस्थ कर ली। जब वे १४ साल के हुए तो उनकी शिक्षा बतौर शैव के पूरी हो चुकी थी।

सन् १८३६ में मूलशंकर को शिवरात्रि के दिन उपवास रखने के लिए और शिव मूर्त्ति के सामने जागने के लिये कहा गया। आधी रात गए उन्होंने एक चूहे को शिव मूर्त्ति पर चढ़ते और खाद्य सामग्री खाते हुये देखा। यह देख उनके मन में शंका पैदा हुई कि क्या यह पत्थर की मूर्ति

भगवान हो सकती है। उन्होंने अपने पिता को जगाया और अपनी शंका का समाधान मांगा। जब उन्हें ठीक उत्तर न मिला तो उनकी आस्था मूर्ति पूजा से उठ गई।

इस घटना के पांच साल बाद मूलशंकर की बहिन और चाचा की मृत्यु हो गई। इससे उन्हें बहुत शोक हुआ। उन्होंने सोचना शुरू किया कि शोक-ताप पर विजय कैसे पाई जाय। जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने दत्तचित होकर संस्कृत साहित्य और व्याकरण पढ़ना शुरू किया। उनके माता-पिता के मन में सन्देह होने लगा कि उनका पुत्र संसार त्यागना चाहता है। इसलिये उन्होंने उनको विवाह बंधन में बांधना चाहा। और विवाह की तारीख पक्की कर दी गई। मूलशंकर ने जब देखा कि उनके विरोध का कोई असर नहीं तो वे घर से निकल भागे। यह घटना सन् १८४६ की है, तब उनकी अवस्था केवल २१ साल की थी।

स्वामी जी के गृहस्थ-जीवन में तीन घटनाएँ महत्वपूर्ण हैं—प्रथम शिवरात्री जागरण, द्वितीय बहिन और चाचा की मृत्यु और तृतीय गृह त्याग। मूर्ति पूजा के विरुद्ध उनके मन में इतना विद्रोह था कि उन्होंने मूर्ति पूजा के गढ़ बनारस और हरद्वार में भी इसका पूरे ज़ोर से खंडन किया। एक बार उन्होंने घर छोड़ा तो फिर वापस जाने का नाम नहीं लिया और जीवन भर सम्बन्धियों का मुंह नहीं देखा।

गृहत्याग करने पर उन्हें पता चला कि शैलनिवासी 'लाला भक्त' नामक योगी बहुत पहुँचा हुआ है। मूलशंकर उसके पास योग सीखने गये। यहां उन्होंने सन् १८४६ में ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश किया और शुद्ध चैतन्य नाम धारण किया। जब शुद्ध चैतन्य की संतुष्टि लाला भक्त से नहीं हुई तो उन्होंने फिर अपना पयर्टन जारी किया। आगामी १५ साल वे ज्ञान की खोज में घूमते रहे और सारा मध्य और उत्तरी भारत घूम डाला।

इस काल में उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय ज्ञान का उपार्जन किया। उन्होंने वेद, उपनिषद् आर सूत्र पढ़े और पाश्चात्य ज्ञान का भी परिचय प्राप्त किया। उन्होंन कइ स्थान दखे। परमानन्द परमहंस के साथ वेदान्त पढ़ा।

जब उन्होंने देखा कि खाना बनाने में बहुत वक्त लगता है और

अध्ययन में बाधा होती है तो उन्होंने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया। एक दक्षिणी साधू स्वामी पूर्णानन्द ने उन्हें सन् १८४७ में संन्यास धारण कराया और दयानन्द नाम दिया।

स्वामी दयानन्द ने योग ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि से सीखा। तब स्वामी जी आबू पर्वत गए और घूमते घामते सन् १८५४ में हरद्वार कुम्भ मेले में पहुंचे। इस समय में वे योगाभ्यास करते रहे। उन्होंने ऋषिकेश, टिहरी, गुप्तकाशी केदार, बद्रीनाथ और जोशीमठ का दर्शन किया।

बद्रीनाथ में उन्हें मंदिर के प्रधान पुजारी रावल जी से पता चला कि तब वहां कोई सच्चा योगी नहीं था। योगी से मिलने की स्वामी जी की इच्छा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने सारे भारत की खोज शुरू की। वे पहाड़ों में घूमें, नदी तलहटियों में भटके और उन्होंने सर्दियों के दिनों बर्फानी नालों को तैर कर पार किया।

पन्द्रह साल के कष्टों और भ्रमण के बाद वे सन् १८६० में मथुरा आए। मथुरा में उन्हें एक स्वामी के दर्शन हुए जो दुबला पतला, जन्मान्ध, और अंध विश्वास का कट्टर शत्रु था। उसका नाम स्वामी विरजानन्द था। स्वामी दयानन्द के जीवन पर सब से अधिक स्वामी विरजानन्द का प्रभाव पड़ा। वे आधुनिक संस्कृत साहित्य और व्याकरण के घोर शत्रु थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द को इस शर्त पर दीक्षा देना स्वीकार किया कि दयानन्द आधुनिक संस्कृत साहित्य की सब पुस्तकें फेंक दें।

स्वामी विरजानन्द ने स्वामी दयानन्द को तीन साल तक शिक्षा दी। शिक्षा समाप्त होने पर जब स्वामी दयानन्द आध सेर लौंग दक्षिणा के रूप में लेकर स्वामी विरजानन्द के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा कि दयानन्द! मैं तुम से कुछ और दक्षिणा चाहता हूं। तुम मेरे सामने प्रतिज्ञा करो कि जब तक तुम जीवित रहोगे तुम आर्य धर्म का प्रचार करोगे और अनार्ष ग्रंथों का खण्डन करोगे। और इसके लिये तुम्हें अपना जीवन भी देना पड़े तो चूकोगे नहीं। यही मेरी दक्षिणा है। इस प्रकार गुरु के आदेश से स्वामी जी ने वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया।

अपने धर्म प्रचार में स्वामी जी ने भागवत, मूर्तिपूजा का खण्डन

किया और एकेश्वरवाद का प्रचार किया। स्वामी जी ने गोरक्षा के लिए भी महान् प्रचार कार्य किया।

स्वामी जी ग्वालियर, जयपुर, अजमेर आदि स्थानों पर घूमते २ मार्च १८६७ में हरद्वार पहुंचे। हरिद्वार पहुँच कर स्वामी जी सप्त सरोवर पर ठहरे जो हृषीकेश और हरिद्वार के बीच में हरिद्वार से तीन कोस पर है। वहां बाड़ा बांधकर और आठ, दस छप्पर डाल कर उन्होंने डेरा डाला और एक पताका गाड़ दी जिस पर 'पाखण्ड खण्डन' शब्द लिखे हुए थे। उस समय पन्द्रह, सोलह संन्यासी और ब्राह्मण उनके साथ थे, उनके वस्त्र गेरूआ थे, गले में मद्राक्ष माला थी। स्वामी जी ने प्रतिदिन उपदेश देना प्रारम्भ किया जिस में उन्होंने मूर्ति पूजा, अवतारवाद, भागवत, तीर्थ, तिलक, छाप कंठी और चक्राङ्कण आदि का प्रबल खण्डन किया।

महाराज ने कुम्भ पर देखा कि जनता अंधकार में फंसी है। संस्कृत के विद्वान् स्वार्थान्ध होकर धर्म के नाम पर लोगों को लूट रहे हैं। जिन लोगों का कार्य गृहस्थों को धर्मोपदेश करना था वह स्वयं ही उन्हें असत्य सिद्धांतों की कीचड़ में फंसा कर धर्म विमुख बना रहे हैं। साधु समाज की भी वैसी ही हीन दशा है। वह अनेक शाखाओं प्रशाखाओं में विभक्त हैं। नाम के साधु है परंतु गृहस्थों से गए बीते हैं। कौन सा दुर्व्यसन है जो गृहस्थों में है और उन में नहीं है। अन्यों में शांति स्थापन तो दूर रहा, साधु संन्यासी आपस में अनेक प्रकार के कलह विवाद उठा कर अशांत हो रहे हैं। धर्म केवल आडंबर का नाम रह गया है। ऐसी दशा में स्वामी जी के मन में देश हित और समाज कल्याण की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि इस प्रकार अन्य साधु संन्यासियों की भांति रहने सहने से कार्य नहीं चलेगा। उन्हें संसार की मोह वासना से सर्वथा ऊँचा उठना चाहिये। जो सामग्री वस्त्र, पुस्तक, धन आदि उनके पास थीं वह भी उन्हें मार्ग में बाधा प्रतीत होने लगी। इन विचारों का उनके मन में स्फुरण होने लगा और एक दिन व्याख्यान देते २ वह एक बार ही गद्गद् हो गए और 'सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा:' कह कर उठ खड़े हुए और जो कुछ उनके पास था उसे लोगों को बांटने लगे। केवल एक लंगोट रख कर शेष सामग्री योग्य पात्रों को दे दी और यह प्रण किया कि जब तक हमारी इष्ट सिद्धि न होगी गंगा तट पर विचरण करेंगे और मौनव्रत धारण करेंगे। परंतु उनका मौनव्रत

चला नहीं क्योंकि एक दिन एक मनुष्य उनकी कुटी के द्वार पर भागवत की स्तुति करने लगा—'भागवतं निगम तरोगलितं फलम्।' स्वामी जी उसे सहन न कर सके और तुरंत ही उसका खण्डन करने लगे। इस प्रकार उनका ढाई महीने का मौनव्रत समाप्त हुआ।

स्वामी जी के बहुत शास्त्रार्थ हुए जिन में बनारस, बरेली, बम्बई, हुगली, कलकत्ता, पटना, डुमराव, राजकोट, सूरत, मुरादाबाद, जालंधर, अजमेर और उदयपुर के शास्त्रार्थ प्रसिद्ध हैं। इन शास्त्रार्थों में उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए एकेश्वरवाद का प्रचार किया। स्वामी जी ने कई सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक अंध विश्वासों का विरोध किया जो हिन्दू धर्म में आ गए थे।

स्वामी जी ने केवल खण्डन ही नहीं किया उन्होंने हिंदू समाज को वैदिक आदर्शों पर स्थापित करने के लिये अपने विचार भी प्रस्तुत किये। समाज निर्माण के लिये शिक्षा सब से अधिक आवश्यक है इस लिये उन्होंने छलेसर, कासगंज, मिर्जापुर और काशी में संस्कृत पाठशालाएं स्थापित की। इन पाठशालाओं का उद्देश्य था वेद उपनिषद् दर्शन आदि आर्ष ग्रंथों का शिक्षण व आर्ष ज्ञान का प्रचार।

स्वामी दयानंद ने कई रजवाड़ों का भ्रमण किया ताकि वे राजाओं को राजधर्म सिखा सकें। स्वामी जी ने अजमेर, जोधपुर और शाहपुर के राजाओं को शासन किस तरह करना चाहिए इसकी शिक्षा दी। स्वामी जी का विश्वास था कि अगर राजा सदाचारी होगा तो प्रजा भी सदाचारी होगी। स्वामी जी राजा द्वारा नैतिकता के पालन को अत्यावश्यक समझते थे। स्वामी जी का यह विचार यूरोपियन फिलास्फर मैकेवली के विचार से विपरीत है। मैकेवली का कहना था कि राजा को राज्य व अपने उत्कर्ष के लिये अनैतिक व्यवहार की भी छूट है। स्वामी जी का सिद्धांत था 'यथा राजा तथा प्रजा' इसीलिये उन्होंने जोधपुर के महाराजा की, उनके अनैतिक व्यवहार के लिये इन शब्दों में भर्त्सना की—"सौभाग्य की बात है कि आप में अनेक प्रशंसनीय शुभ गुण, आरोग्य और राजैश्वर्यसम्पन्नता वर्तमान है। परंतु शोक की बात है कि ऐसे आप बुद्धिमान होके नीचे लिखी थोड़ी सी बातों में न जाने क्योंकर प्रवर्त्तमान रहते हैं। वे ये हैं:—

यदि आप वश्यासंग, पतंग उड़ाना, घुड़दौड़, आदि द्यूत नहीं छोड़ते और राज्यापालन कर्म में कम से कम छः घण्टेपरिश्रम और महालक्ष्मीरूप राज-कन्या स्वपत्नियों से अधिक प्रेम नहीं करते हैं इत्यादि शोचनीय बातें आप में हैं। आप निश्चय समझिए कि जितने आप के आधीन पुरुष कीर्ति व निन्दा के कार्य करेंगे वह सब आप ही पर गिने जायेंगे। यदि स्वयं मद्यपानादि में प्रवृत्त न हों तो क्या कोई भी इनमें आपको प्रवृत्त कर सकता है। जो स्वार्थी खुशामदी हैं वे तो सदा यही चाहते हैं कि राजा प्रमाद में लगे तो हमारे सब प्रयोजन सिद्ध हो जाएं। परंतु संसार में इन का नाम कोई भी न लेगा।"

महाराजा को पहले कभी ऐसी भर्त्सना नहीं मिली थी। परंतु महा-राजा ने बुरा नहीं माना और इसे इसी भावना में लिया जिस भावना में स्वामी जी ने भर्त्सना की थी। लेकिन जो व्यक्ति राजा के अनैतिक जीवन का फायदा उठाते थे वे घबरा गये। उन्होंने स्वामी जी की हत्या करने का षडयंत्र किया। उन्होंने धोखे से स्वामी जी को जहर दे दिया। जब स्वामी जी को पता चला तो देर हो गई थी। उन्होंने वमन द्वारा जहर निकालना चाहा जैसे उन्होंने पहले तीन चार बार किया था परंतु कोई लाभ न हुआ। उन्हें आबू-पर्वत ले जाया गया और वहां से अजमेर। एक महीने तक स्वामी जी बीमार रहे. पीड़ाओं की यंत्रणा सहते रहे पर मुँह से आह तक नहीं निकली, कोई शिकायत नहीं की। उनका आत्म संयम कमाल का था। तीन अक्तूबर १८८३ को दिवाली के दिन ५ और ६ बजे के दरम्यान उन्होंने छत की ओर देखा, और फिर चारों ओर देखा तथा वेद मंत्रों का उच्चारण किया। तब उपासना में बैठ गए। कुछ देर समाधि में रहे, तब आंख खोली और कहा—कृपालु भगवान, आप की इच्छा पूर्ण हो। तुम्हारी कैसी लीला है।" उसके बाद वे एक करवट पर लेट गये, और अपना श्वास रोक कर, श्वास बाहर फेंका और ६ बजे के करीब शाम को प्राण त्याग दिये।

यह सारा समय पण्डित गुरुदत्त जी स्वामी जी को देख रहे थे। उन्होंने देखा कि किस प्रकार योगी और ईश्वर में आस्था रखने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। तब तक पण्डित गुरुदत्त नास्तिक थे, इस दृश्य के बाद वे आस्तिक बन गये। वे स्वामी जी के भक्त हो गए।

स्वामी दयानन्द के जीवन की यह झांकी हमें उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की महानता का परिचय नहीं दे पाती। वास्तव में स्वामी दयानन्द उन व्यक्तियों में से थे जिनके व्यक्तित्व का प्रभाव व्यक्तियों व संस्थाओं पर अमिट छाप बन कर रह जाता है। स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में जो भी आया वही प्रभावित हुआ। हमारे समक्ष श्याम जी कृष्ण वर्मा, गोविन्द महादेव रानाडे तथा शाहपुराधीश आदि के उदाहरण हैं। वास्तव में स्वामी दयानन्द ने भारत की आत्मा को अपनी शक्ति से शक्तिवान बनाया उन्होंने भाग्यवादी हिन्दू जाति को भाग्यवादिता की श्रृंखलाओं से स्वतन्त्र किया और बताया कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और हमारे कर्म ही हमारे भाग्य का निर्माण करने वाले होते हैं।

पुरुषों में स्वामी दयानन्द पुरुषोत्तम कहे जा सकते हैं। उनका शारीरिक पौरुष और बौद्धिक तेजस्विता दोनों ही अद्वितीय हैं। उनका सुडौल तथा ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी शरीर जहां पर हरकुलीस की याद दिलाता वहां उनका संस्कृत तथा आर्ष ग्रन्थों का ज्ञान उनमें प्राचीन ऋषि के प्रत्यक्ष दर्शन करवाता था। स्वामी दयानन्द जिस दृढ़ता, उत्साह और अथक परिश्रम से अपने महान उद्देश्य की पूर्ति व प्रचार में जीवन भर रत रहे वह भी हमारे लिए अनुकरणीय है।

ऋषि दयानन्द का गौरव यही था कि उन्होंने वैदिक सूर्य के ऊपर छाए बादलों को छिन्न भिन्न कर के पुनः उसके स्वच्छ और जीवनप्रद प्रकाश को प्रसारित किया। उन्होंने बतलाया कि वेद ही सम्पूर्ण ज्ञान के मूल स्रोत हैं। वे अपौरुषेय हैं; उनमें केवल एक अजर, अमर, अविनाशी सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान निराकार परमेश्वर की उपासना की आज्ञा दी गई है। अग्नि वायु, विष्णु शिव आदि नाम जिनको आधुनिक भाष्यकार देव विशेषों को नाम मानते हैं वास्तव में ईश्वर के गौण नाम हैं। आधुनिक भाष्यकारों ने देव शब्द से हरेक स्थान में उपास्यदेव ही के अर्थ को ग्रहण किया है और इस कारण वे वेदों में अनेक देवों की उपासना का विधान मानने लगे। ऋषि दयानन्द ने देव शब्द के सच्चे अर्थों को प्रकाशित कर इस भ्रान्ति को दूर किया। उन्होंने बताया कि देव किसी योनिविशेष का नाम नहीं। वह सब पदार्थों के लिए--जड़ व चेतन, सभी के लिए प्रयुक्त हो सकता है यदि उनमें कान्ति आदि गुण पाए जाते हों।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने यह भी बताया कि वैदिक यज्ञ में पशुहिंसा की कहीं आज्ञा नहीं। वेदों में यज्ञ का नाम है 'अध्वर'—अर्थात् हिंसा से रहित। यज्ञ का अभिप्राय यह नहीं कि रुष्ट देव को पुष्ट पशु की बलि देकर सन्तुष्ट किया जाए, किन्तु यज्ञ का अभिप्राय तो यह है कि विद्वान महात्मा जन एकत्रित होकर वायु

जल की शुद्धि और रोग निवारण के लिए अग्निहोत्र करें या फिर आध्यात्मिक विद्या द्वारा मनुष्यों का कल्याण करें।

आधुनिक जातपात के बन्धनों का वेदों में चिन्ह भी नहीं। वेदों में मनुष्य जाति को चार वर्णों में विभक्त किया गया है और वर्ण गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल निर्धारित होते हैं न कि जन्म के अनुकूल। उच्च कुल में जन्म लेने से किसी मनुष्य पर श्रेष्ठता की छाप नहीं लग जाती। उच्च वर्ण का मनुष्य नीच कर्म करने से पतित हो जाता है। और नीच वर्ण वाला उत्तम कर्म करने से अपने से उच्च वर्ण का अधिकारी बन सकता है।

जाति की उन्नति के लिए ऋषि दयानन्द ने जहां पर वर्ण व्यवस्था का विधान किया है वहां पर प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आश्रम धर्म का पालन आवश्यक है ऐसा प्रतिपादित किया। प्रत्येक मनुष्य को जीवन क्षेत्र में उतरने से पहले उसके प्रलोभनों का सामना करने, उसके इन्द्रजाल को तोड़ने, जीवन के दुःखों को सहने के लिए अपने आप को तैयार करना चाहिए। इस तैयारी के लिए पुरुष को कम से कम २५ वर्ष तक तथा स्त्री के लिए कम से कम १६ वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर शरीर को पुष्ट, मन और इन्द्रियों को वशीभूत करके, विद्या से बुद्धि को परिष्कृत करके स्वयंवर की रीति से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में प्रत्येक को अपने २ वर्ण के धर्मों का पालन करते हुए उत्तम सन्तान को उत्पन्न करके पचास वर्ष की आयु में वानप्रस्थी बन कर अपनी विद्या और अनुभव को परिपक्व करना चाहिए और सब प्रकार की एषणाओं को जीत कर प्राणिमात्र का उपकार करने के लिए संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिए जिसमें गृहस्थों को अपने विद्या बुद्धि पुरुषार्थ और सदाचार से लाभ पहुँचा कर सब ऋणों से उऋण होकर अन्त में मोक्ष का अधिकारी बने।

ऋषि दयानन्द ने जातपात का खंडन तथा वैदिक वर्ण व्यवस्था का प्रचार कर तत्कालीन भारतीय समाज को ब्राह्मणों के अत्याचार से बचाया। तत्कालीन भारत के ब्राह्मणों ने वेदों पर अपना एक मात्र अधिकार जमाया हुआ था। वे स्वयं वैदिक शिक्षा के बहुत जानकार नहीं थे और क्षत्रिय वैश्यों और शूद्रों को वेद विषयक ज्ञान अर्जित करने से रोकते। शूद्रों व स्त्रियों को वैदिक मन्त्रों के सुनने तक से वंचित कर दिया था। स्वामी दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वेदों के अमृत स्रोत का पान करने की आज्ञा मनुष्यमात्र को दी। यही नहीं वरन् उन्होंने तो वेदों का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म घोषित कर दिया। क्योंकि सर्वसाधारण संस्कृत को सुगमता से समझ नहीं सकते इस लिए

स्वामी दयानन्द ने सर्वविद्याभंडार वेद का भाषार्थ सरल भाषा में किया। यह ऋषि का सर्व साधारण पर महान अनुग्रह है, कृपा है। हम इसके लिए उनके ऋणी हैं। इस ऋण से उऋण होने के लिए हमें ऋषि के वेदभाष्य के अध्ययन व प्रचार को अपना कर्त्तव्य बना लेने का प्रण करना होगा और साथ ही वैदिक आदर्शों को अपने जीवन में उतारना होगा।

वैदिक ज्ञान की दृढ़ चट्टान पर खड़े होकर ऋषि ने अपनी पाखण्ड खंडनी पताका गाड़ी और समाज में फैली कुरीतियों व पाखण्डों पर वज्राघात किया। उन्होंने स्त्रियों को समाज में पुरुषों से ऊंचा नहीं तो उनके बराबर तो अवश्य ही स्थान दिलाया। ऋषि के विचार में वर्णाश्रम व्यवस्था पुरुषों व स्त्रियों दोनों पर बराबर ही लागू होती है। उन्होंने आश्रम धर्म का पालन स्त्री व पुरुष दोनों के लिए ही जरूरी ठहराया। शिक्षा व वैदिक शिक्षा की प्राप्ति स्त्री व पुरुष दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। स्त्रियां भी राज्य कर सकती हैं। युद्ध लड़ सकती हैं व न्यायाधिकारी बन सकती हैं। यह पहली बार इस युग में महर्षि ने ही कहा। वे बालविवाह के घोर विरोधी थे और बालविधवा विवाह के समर्थक। पर्दे की प्रथा का उन्होंने विरोध किया और इस प्रकार स्त्री जाति को घर की चार दिवारी से निकल खुली व शुद्ध वायु में सांस लेने में समर्थ किया। माता के पद के वास्तविक गौरव का ऋषि ने जाति को दिग्दर्शन कराया। स्त्री जाति—मातृशक्ति, महर्षि के ऋण से उऋण हो सकती है यदि वह प्रण करे कि अपनी सन्तानों को वैदिक आदर्शों का पालन करने वाली बना कर जाति का उद्धार करेगी। वास्तव में जैसा ऋषि ने कहा समाज का भविष्य, समाज की उन्नति व समाज का पतन सब मातृशक्ति पर ही निर्भर है क्योंकि समाज के चरित्र का निर्माण उसी के हाथों होता है।

स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया, मूर्तिपूजा के ऊपर वह प्रहार इतनी योग्यता और इतनी आन्तरिकता के साथ करते थे जैसा कि भारत के किसी आचार्य ने उनसे पहले कभी नहीं किया था। स्वामी दयानन्द का यह दृढ़ विचार था कि हिन्दुओं की अवनति का प्रधान कारण मूर्तिपूजा ही है। जो धर्म पूर्ण भावसे आन्तरिक वा आध्यात्मिक था उसे पूर्ण रूप से बाह्य किसने बनाया? मूतिपूजा ने। कामादि शत्रुओं के दमन और वैराग्य के साधनों के बदले तिलक और त्रिपुण्ड किसने धारण कराया? मूर्तिपूजा ने। ईश्वर भक्ति, परोपकार और स्वार्थत्याग के बदले अंग में गोपी चन्दन का लेपन, मुख से गंगो लहरी का उच्चारण, कण्ठ में

मालाओं का धारण किसने सिखाया ? मूर्त्तिपूजा ने। संयम, शुद्धता, चित्त की एकाग्रता के स्थान में केवल दिन विशेष पर खाद्य विशेष न खाना, प्रातः सायं अलग २ वस्त्रों को पहनना और तिथि विशेष पर मनुष्य विशेष का मुख देखना तो दूर, उनकी छाया तक का स्पर्श न करना, सब किसने सिखाया—मूर्त्तिपूजा ने। आर्य जाति को सैंकड़ों सम्प्रदायों में किसने बांटा - मूर्त्तिपूजा ने। मूर्त्तिपूजा के परिणाम स्वरूप ही जिस परमात्मा का वेदादि शास्त्रों में अकाय अव्रण अस्पर्श आदि शब्दों से कीर्तन किया गया है उस परमात्मा में हिन्दू काम, क्रोध, भय क्षुधा, तृष्णा, व्याधि आलस्य, निद्रा, पुत्रोत्पादन, विद्वेष, हिंसा, परस्त्री गमन आदि का आरोप करने में भी संकोच अथवा पाप का अनुभव नहीं करते। हिन्दुओं ने इन स्वकल्पित और नव निर्मित ईश्वरों में से हरेक की नाना उपकरणों से पूजा करने और इस पूजा प्रणाली को चिरस्थायी बनाने के लिए एक २ पुराण व उपपुराण की रचना भी कर डाली। दयानन्द ने सत्य ही इस बात को समझा कि नित्य नूतन ईश्वरों की सृष्टि करने की प्रवृत्ति में ही हिन्दुओं ने अपनी अवनति का बीज बोया है। काशी शास्त्रार्थ में उनका प्रधान पक्ष यही था—पाषाणादि मूर्त्तिपूजा वेद विरुद्ध हैं। पूना के शास्त्रियों के साथ भी उनका प्रधान विचारणीय विषय था कि मूर्त्तिपूजा मिथ्या है। जैसे मूर्त्तिपूजा आर्य संस्कृति की प्रधानतम वैरिणी है वैसे ही दयानन्द मूर्त्तिपूजा के प्रधानतम वैरी थे। उन्होंने मूर्त्तिपूजा का विरोध कर देश व जाति का विशेष उपकार किया। सत्य ही दयानन्द ने मृतक श्राद्ध, कच्ची पक्की सखरी निखरी रोटी, समुद्र पार न करने के ढकोंसलों को निरर्थक सिद्ध कर भारतीय समाज को पोपों के चंगुल से छुड़ाने का भारी कार्य किया।

वस्तुतः आज का शक्तिसम्पन्न और परिष्कृत हिन्दु धर्म स्वामी दयानन्द ही की देन है। स्वामी जी में महात्मा बुद्ध की मानवता तथा शंकर की बौद्धिकता व वेदज्ञान को महत्ता देने की दृढ़ता दोनों ही एकत्र ग्रथित हो गईं। बुद्ध ने जाति पाति की असमानता पर आधारित भारतीय सामाजिक ढांचे का खण्डन किया और परिणामतः एक क्रान्ति ला दी। पर साथ ही में बुद्ध ने वेदों व यज्ञों की मान्यता को समाप्त कर दिया। दूसरी तरफ दयानन्द शंकर के समान् भारतीय संस्कृति का आधार वेदों को मानते हुए भी शंकर के जन्मगत तथा जातिगत रूढ़ियों में विश्वास का खण्डन करते हैं और इस प्रकार वैदिक आदर्श के आधार पर एक जातिगत भेद रहित आदर्श समाज की कल्पना व रूप-रेखा चित्रित करते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने इस आदर्श समाज में व्यक्ति को उसकी

उचित स्थिति का भान कराने के लिए शिक्षा को बहुत महत्व दिया। साथ ही दयानन्द ने पैगम्बर मुहम्मद की भांति एकेश्वर की आराधना को स्थापित कर समाज में समानता तथा एकता को लाने का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द ने उस एकेश्वर की आराधना का स्थापन किया जिस की उपासना व्यक्ति असहाय की तरह नहीं करता था अपितु जिसके प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्णतया बौद्धिक रहता है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज को न केवल आन्तरिक कुरीतियों से ही मुक्त किया, वरन विदेशी सभ्यता व धर्म के आक्रमण से भी बचाया। दयानन्द इस्लाम और ईसाई मत के घोर विरोधी थे। दयानन्द के समय में ये दोनों धर्म हिन्दु धर्म को समाप्त करने में संलग्न थे हिन्दु जाति का एक बड़ा हिस्सा (पिछड़ी जातियों के लोग) धड़ाधड़ मुसलमान और ईसाई बनते चले जा रहे थे। महर्षि यह जानते थे कि इस्लाम और ईसाईमत जैसे विदेशी मतों के अपनाने से देशवासियों में राष्ट्रीय भावनाओं को, जिनको वह जागृत करना चाहते थे, ठेस पहुँचेगी। वास्तव में ही महर्षि के समय में नवशिक्षा प्राप्त भारत-वासी नवयुवक ईसाई मत की ओर झुकते चले जा रहे थे। ये नवयुवक भारतीय संस्कृति, सभ्यता व धर्म के असली रूप से अनभिज्ञ, हिन्दु धर्म के बिगड़े रूप पर किए गए आक्षेपों का उत्तर देने में असमर्थ ईसाई बनना स्वीकार कर रहे थे। ऐसे समय में ऋषि दयानन्द ने ईसाईयों द्वारा किए हुए आक्षेपों का न केवल उत्तर ही दिया वरन् साथ ही में ईसाई धर्म का खण्डन कर उसके खोखले पन को दिखा हज़ारों भारतीयों को ईसाई बनने से बचाया। भारतवर्ष में ईसाईयत का बोल बाला इसलिए था कि सरकार इस धर्म की पोषक थी। जिस युग में भारतवासी विदेशी वेषभूषा और चाल ढाल पर मोहित होकर नकली अंग्रेज बनने में अपना अहोभाग्य समझते थे, उसी युग में महर्षि ने लिखा "देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आए योरोपियनों को हुए और आजतक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहनते हैं जैसा कि स्वदेश में पहनते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल चलन नहीं छोड़ा और तुम में से बहुत लोगों ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं।" (सत्यार्थ प्रकाश ११वां समुलास)। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज का इतना अधिक खण्डन ऋषि ने केवल उनके विदेशी पन के कारण ही किया। वह लिखते हैं "इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर रहा, उनके स्थान पर भरपेट निन्दा करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम भी नहीं लेते प्रयुत्त ऐसा कहते कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में

आज पर्यन्त कोई विद्वान ही नहीं हुआ। आर्यावर्त्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आए हैं उनकी उन्नति कभी नहीं हुई।" उनकी भर्त्सना करते हुए वह लिखते हैं—"भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी का अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं तब अपने पिता पितामह आदि के मार्ग को छोड़ कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना ब्रह्म समाजी और प्रार्थना समाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर झटति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है?" कितने स्वदेशाभिमानी थे ऋषि दयानन्द और कितना गर्व और मान था इन्हें अपने देश पर यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट है--"आर्यावर्त्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई नहीं है...जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसकी प्रशंसा करते हैं आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाडय हो जाते हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश ११वां समुल्लास) इस महान् देश को दासता की जंजीरों में जकड़ा देख ऋषि का हृदय विदीर्ण हो उठता उन्हें देश की दुर्दशा का महान दुःख था। उन्होंने लिखा है—"आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पदाक्रान्त हो रहा है कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख दायक नहीं है।" (स० प्र० ८वां समुल्लास)

इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में पूर्ण स्वराज्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। स्वामी दयानन्द ने उन कमजोरियों का दिग्दर्शन भी देश वासियों को कराया जिनसे लाभ उठा कर विदेशी राज्य अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने में समर्थ होता है। ऋषि लिखते हैं—"विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट मतभेद आदि हैं...जब भाई २ आपस में लड़ते हैं तभी तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" इन्हीं कमजोरियों को दूर करना ऋषि के खण्डनात्मक कार्य का ध्येय था।

ऋषि देशी रियासतों के राजाओं के नैतिक पतन और रियासतों की दुर्दशा से अत्यन्त दुःखी थे। वे प्रायः कहा करते थे कि "हिन्दु राजाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय है वे कभी के नष्ट हो गए होते, परन्तु जितने या जो कुछ

बचे हुए हैं वे उनकी रानियों के पतिव्रत धर्म से बचे हुए हैं। जोधपुर नरेश को उनके नैतिक पतन पर फटकारते हुए उन्होंने जो शब्द कहे वे सभी जानते हैं कि ऋषि की मृत्यु का कारण बने।

यद्यपि रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का अंकुश था फिर भी वे कुछ अंशों में स्वतन्त्र ही थीं। इसी लिए ऋषि ने विचार किया था कि पहले रियासतों में सुधार करना चाहिए। उदयपुर मेंरहते हुए श्री मोहन लाल विष्णुलाल पण्ड्या से स्वामी जी ने एक बार कहा था—"मैं चाहता हूं कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें, फिर भारत में आप सुधार हो जाएगा। रियासतों के सुधार में भारत का सुधार निर्भर है ऐसा सोच कर ऋषि ने अपना मुख्य कार्य क्षेत्र राजस्थान को चुना। राजस्थान के केन्द्र अजमेर को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया।

इस प्रकार १८५७ की असफल क्रान्ति के पश्चात् जब भारत पर अंग्रेज़ों की सत्ता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और पढ़े लिखे उन्नतिशील भारतवासी अपनी महत्वाकांक्षा के विमानों पर बैठ कर औपनिवेशिक स्वराज्य, सरकारी नौकरी और हाईकोर्ट की जजी से अधिक ऊंचे नहीं जा सकते थे, जब स्वराज्य का विचार भी किसी के मस्तिष्क में न था तब जिस महापुरुष ने पूर्ण स्वराज्य का स्वप्न देखा था वह महर्षि दयानन्द ही थे। 'अन्य देशवासी राजा हमारे देश न में हों तथा हम पराधीन कभी न रहें' इन शब्दों से पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की थी महर्षि ने पूर्ण स्वराज्य तथा चक्रवर्ती राज्य के मूल सिद्धान्तों की रूप रेखा सत्यार्थ प्रकाश तथा अपने वेद भाष्य में अंकित की। स्वामी दयानन्द के चक्रवर्ती राज्य की सरकार लोकतांत्रिक होनी है। इस विषय में वह लिखते हैं :— एक को स्वतन्त्र राज्य वा अधिकार न होना चाहिए। किन्तु राजा जो सभापति हो, तदाधीन सभा सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजा के आधीन रहे। (सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ६)

इस वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट है। सभापति ही राजा समझा जाय। राजा सभा का सभापतित्व करता हुआ भी सभा के आधीन रहे और राजा और सभा दोनों अपने को प्रजा के वशवर्ती समझें। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में केवल राजनीति के मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या करके ही संतोष नहीं किया। भारत के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने व्यावहारिक राजनीति का भी

विस्तार से प्रतिपादन करके सिद्ध कर दिया कि संस्कृत विद्या में पूरी र राजनीति है। महर्षि ने जो व्यावहारिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं उनके मन से केवल भारत के ही नहीं अन्य देशों के शासकों को भी लाभ पहुँच सकता है।

स्वराज्य की स्थिरता के लिए स्वदेशी, भाषा, आचार व्यवहार और चरित्र के निर्माण पर महर्षि ने बल दिया। और ऋषि के इन विचारों को हम व्यावहारिक गांधीवाद का पूर्वरूप कह सकते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से हम कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द भारत की राजनैतिक व सामाजिक क्रान्ति के सर्व प्रथम नेता थे। वे वास्तविक अर्थों में सुधारक थे। वे मनुष्य मात्र में समानता व भ्रातृभाव का प्रचार करते परन्तु यह शिक्षा उन्होंने जे० एस० मिल के विचारों का अध्ययन करके नहीं पाई थी। वे सब मनुष्यों को स्त्री पुरुष, शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब को विद्योपार्जन करने का परामर्श देते थे पर उन्होंने यह विचार किसी पाश्चात्य विद्वान के ग्रन्थों से नहीं लिया था। दयानन्द में सब कुछ अपना था वह पाश्चात्य सभ्यता के ऋणी नहीं थे। सौभाग्यवश दयानन्द अंग्रेज़ी नहीं जानते थे अन्यथा यह कहा जाता कि उन्होंने अपने प्रगतिवादी विचार अंग्रेज़ी पुस्तकों से प्राप्त किए हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से ही दयानन्द ने अपने विचारों का निर्माण किया था। इसलिए दयानन्द विशेष अर्थों में भारतीय थे यद्यपि उनकी शिक्षा वही है जो वेदों की और वेद मनुष्य मात्र के हैं। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से वह विशेषतः हमारे हैं और उनके प्रदर्शित पथ पर चलना हमारे लिए हितकारी है। ऐसे महान आत्मा के जीवन का बारम्बार अवलोकन करना चाहिए क्योंकि सत्पुरुषों के सहवास से ही, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके जीवन चरित्र और उनके विचारों के अध्ययन द्वारा मिल सकता है, मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

— — — —

युग-प्रवर्त्तक दयानन्द

स्वामी दयानन्द के जीवन काल में भारतीय जनता उनको भिन्न २ दृष्टि से देखती रही। उस समय वह यह भी निर्णय नहीं कर सकी थी कि दयानन्द हैं क्या और चाहते क्या हैं ? किन्तु आज लगभग पौन शताब्दी के पश्चात् विश्व उनकी वास्तविकता को कुछ २ समझने लगा है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से स्वामी जी एक नवयुग प्रवर्त्तक हैं तो भारतीय जनता की दृष्टि से प्रबल एवं उच्च कोटि के धर्म प्रवर्त्तक, धर्मोद्धारक हैं। स्वामी जी ने वैदिक धर्म के मूल स्वरूप को संसार के समक्ष रखा इसलिए भारतीय जनता ने उन्हें धर्मोद्धारक समझा। जब स्वामी जी का जन्म हुआ तब भारत में पाश्चात्य सभ्यता का प्रवेश होने लगा था, स्वामी जी कार्यक्षेत्र में उतरे, तब उस सभ्यता ने अपने पैर अच्छी तरह जमाने प्रारम्भ किए थे। परिणामतः भारतीय सभ्यता के पैर उखड़ने लगे थे। भारतीय सभ्यता के उपासक तो बहुतेरे थे पर उसके सच्चे रक्षक कोई नहीं थे। उस सभ्यता का रक्षक व पोषक साम्राज्य तो नष्ट भ्रष्ट हो ही चुका था। पाश्चात्य सभ्यता की पीठ पर प्रबल साम्राज्य था। पाश्चात्य सभ्यता का पोषक विज्ञान युग था। स्वामी दयानन्द ने पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण से भारतीय संस्कृति की रक्षा की और इस संस्कृति के आधार पर राष्ट्र निर्माण के कार्य का सूत्रपात किया। इस लिए वह भारत के लिए सच्चे अर्थों में नवयुग निर्माता थे। भारतीय राष्ट्र निर्माण भारतीय संस्कृति को छोड़ कर नहीं हो सकता यह अब लोग समझने लगे हैं।

वैदिक धर्म का प्रचार, स्वसंस्कृति की रक्षा और स्वराष्ट्र निर्माण—इन कार्यों को करने के लिए ही स्वामी जी का जन्म हुआ था। वह पहले भारत का भूमण्डल में सांस्कृतिक साम्राज्य देखना चाहते थे और फिर सर्वत्र भूमण्डल में वैदिक धर्म का अधिराज्य। कवीन्द्र रवीन्द्र जिस सांस्कृतिक स्वराज्य का स्वप्न देखते थे, उनसे पचास वर्ष पूर्व स्वामी जी उसी स्वराज्य की आधारशिला रख चुके थे। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में राष्ट्रनायकों ने जिन उपायों का प्रयोग किया, दयानन्द उनके विषय में पहले ही लिख गए थे। इस प्रकार दयानन्द भारतीय राष्ट्र निर्माताओं के जनक थे।

इस तथ्य की सत्यता उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम स्वामी दयानन्द की तुलना महामना लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी से करते हैं। यद्यपि देश सेवा में तन मन और धन अर्पण करने वाले महापुरुषों की तुलना समीचीन नहीं फिर भी कुतूहलपूर्ण अवश्य है। वैसे तो तीनों ने ही अपने २ समयों में चमत्कारिक कार्य किया है और तीनों ही गुलामी के गहरे नशे में ऊंघते हुए देशवासियों को जगाने वाले हैं, फिर भी तीनों की परिस्थितियां इतनी भिन्न थीं कि तीनों के दृष्टिकोण भी भिन्न ही दिखाई देने लगते हैं। कहा जा सकता है महर्षि ने

हल आदि चला कर स्वराज्य की भूमि को तैयार किया है, लोकमान्य ने उसमें बीज बिखेरा और महात्मा गांधी ने उसमें फूटते हुए अंकुरों की रक्षा की। भारतीय स्वराज्य व राष्ट्र निर्माण के लिए ये तीनों कार्य ही आवश्यक थे। इसलिए इन तीनों महान आत्माओं की तुलना का अर्थ इनमें में किसी एक को छोटा वा बड़ा ठहराना नहीं है।

समाज सुधार के दृष्टिकोण से महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी एक दूसरे के बहुत समीप हैं। समाज सुधारों के क्षेत्र में दोनों का प्रायः एक मत है, यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से मतभेद भी है। सम्पूर्ण आयु या उसके प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम के रूप में व्यतीत करने की आवश्यकता दोनों समान रूप में अनुभव करते हैं। अछूतोद्धार के विषय में दोनों का एक सा मत है। परन्तु इन्हीं विषयों पर दोनों के शास्त्रीय विचारों में अन्तर है। महर्षि ने गुण कर्म और स्वभाव से वर्ण व्यवस्था मानते हुए जन्म से मानने की परिपाटी को बिल्कुल ही समाप्त करना चाहा और इसी रूप में अछूतोद्धार का प्रश्न हल किया है। परन्तु महात्मा गांधी ने जन्म की परिपाटी का उलंघन न करते हुए केवल व्यवहार में से छुआ-छूत के अन्याय को उठा देने का प्रयत्न किया। लोकमान्य तिलक अछूतोद्धार के प्रबल पक्षपाती न थे फिर भी अछूतों से हार्दिक सहानुभूति अवश्य रखते थे। उन्होंने १८९४ में गणपति उत्सव में उस चमार के गणपति को जिसे जलूस में सम्मिलित नहीं किया गया था, अपने गणपति की पालकी में बिठाया। वे कहा करते थे कि किसी मनुष्य को अछूत समझना परमात्मा के प्रति गुनाहगार होना है। किन्तु इस विषय में उन्होंने स्वयं उस समय की किसी सामाजिक मर्यादा का उलंघन नहीं किया और न ही ऐसा करने का कभी स्पष्ट उपदेश ही किया। समुद्र यात्रा का विषय भी उन्नीसवीं सदी की समाज के लिए विशेष महत्व रखता था। दयानन्द इसके सम्पूर्ण पक्ष में थे यद्यपि वह कभी विदेश नहीं गए। महात्मा जी भी विदेश यात्रा को पाप नहीं मानते थे और वह विदेश गए भी। लोकमान्य तिलक भी विदेश गए परन्तु उन्होंने वहां से लौट कर प्रायश्चित अवश्य किया। लोकमान्य ने उस समय के प्रचलित शास्त्रोक्त मत के विरुद्ध कभी आचरण नहीं किया।

महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी में एक और समानता यह है कि उनके कार्य क्षेत्र भारतीय समाज सुधार व स्वराज्य प्राप्ति होते हुए भी उनके दृष्टि कोण संकुचित राष्ट्रवाद से बहुत ऊपर उठे हुए थे। दोनों ही जगत के कल्याण और मनुष्यमात्र की भलाई में रत थे। इसी दृष्टि से दोनों महापुरुष संसार से कुछ ऊपर उठे हुए हैं और राजनीतिज्ञ की अपेक्षा धर्माचार्य अधिक दीख पड़ते हैं। आत्मशुद्धि, आत्मसुधार व चरित्र निर्माण आदि की आध्यात्मिक बातों पर महर्षि और महात्मा गांधी दोनों जोर देते हैं।

महर्षि और लोकमान्य तिलक में भी कई समानताएं ऐसी हैं जो महर्षि और महात्मा गांधी में नहीं मिलतीं। महात्मा गांधी की अहिंसक नीति महर्षि या लोकमान्य की नीति से बिल्कुल नहीं मिलती है। महर्षि के असहयोग में अहिंसा की कोई शर्त नहीं है। पूर्ण सामर्थ्य से जहां तक हो सके अन्यायकारी के बल की हानि का उपदेश और राजनीति के प्रकरण में सब प्रकार के शस्त्रास्त्र आदि का भी उल्लेख ऋषि ने किया है। इस अंश में महर्षि और लोकमान्य बहुत पास पास हैं। जैसे को तैसा की नीति में भी महर्षि और लोकमान्य प्रायः एक मत हैं। दोनों का संस्कृत ज्ञान प्राचीनता से प्रेम और वैदिक स्वाध्याय इत्यादि, दृष्टि भेद होते हुए भी प्रायः समान ही हैं' यद्यपि लोकमान्य को उतने संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने का अवसर नहीं मिला। तीनों को यदि राजनैतिक मापदण्ड से मापें तो महर्षि और लोकमान्य बहुत कुछ बराबर रहते हैं और सात्विक मापदण्ड से मापने पर महर्षि और महात्मा बराबर दीख पड़ते हैं। तथ्य तो यह है कि तीनों ही अपने अपने समय के अद्वितीय महापुरुष हैं।

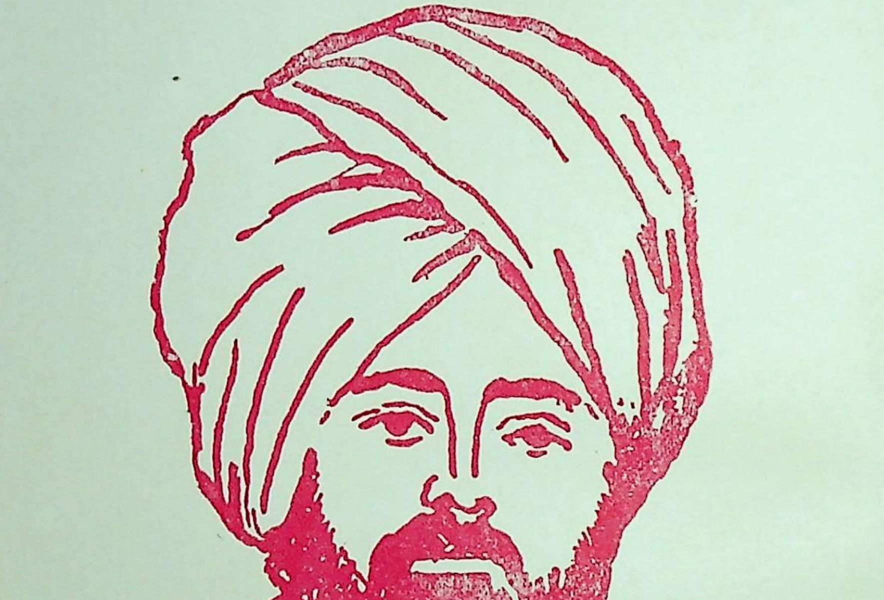
युगपुरुषों का यह मिलान तो उतना कठिन नहीं जितना कि इतिहास में उनके वास्तविक स्थान का निर्णय। स्वामी दयानन्द का वास्तविक स्थान संसार के इतिहास में क्या है इस बात का निर्णय इस समय असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। और इस कठिनाई का मात्र कारण यही है कि हम अभी महर्षि के बहुत निकट हैं। एक पर्वत की महानता, विशालता तथा पर्वत शृंखला में उसके स्थान का निर्णय उस पर्वत के एक दम नीचे खड़े होकर नहीं हो सकता। उसकी महानता के दिग्दर्शन के लिए कुछ दूरी पर खड़े होना अत्यन्त आवश्यक है।

ठीक इसी प्रकार महर्षि की वास्तविक महानता का दिग्दर्शन कुछ और शताब्दियां बीत जाने पर ही हो पाएगा। मेरे इस कथन की पुष्टि संसार के इतिहास से होती है। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में किसने जाना था कि वे जगद्गुरु के उच्च आसन पर लोगों की स्मृतियों में बिठाए जाएंगे। सम्राट अशोक के बुद्ध धर्म को अपना लेने पर भी उस समय किसी ने न जाना था कि बुद्ध को विश्व इतिहास में वह पद प्राप्त होगा जो कि उन्होंने आज प्राप्त किया हुआ है। बुद्ध द्वारा लगाए हुए पौधों को फलने फूलने और फल लाने में कितनी ही सदियां लग गईं। इसी प्रकार महात्मा ईसा के बलिदान के समय, और उनके बलिदान के पचास या सौ साल बाद तक लोग उनको उनका वास्तविक महत्व पूर्ण स्थान नहीं दे पाए थे। वास्तव में देखा जाए तो महात्मा बुद्ध व ईसा को मृत्यु के सौ साल पश्चात् तक जितनी महत्ता मिली थी उससे कितनी गुणा अधिक आज दयानन्द को प्राप्त हो चुकी है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि पर्याप्त समय बीत जाने पर स्वामी दयानन्द की गणना बुद्ध और ईसा की श्रेणी में होगी।

दयानन्द का हृदय ईसा की तरह मानवता के दुःख से दुःखी था। परन्तु बौद्धिक तौर पर दयानन्द ईसा से कहीं अधिक ऊंची श्रेणी में थे। ईसा व दयानन्द दोनों ने मानवता की सेवा की और मानवता के कष्टों को दूर करने में जीवन बलि किया।

महात्मा बुद्ध ईसा की अपेक्षा दयानन्द के अधिक निकट हैं। दोनों ने अपने जीवन का एक बड़ा भाग सत्य की खोज में बिताया और फिर सत्य के वास्तविक रूप को समझ लेने पर उन्होंने अपना शेष जीवन साधारण जनता को सत्य के वास्तविक रूप से परिचित करवाने में लगाया। दोनों के जीवन पवित्र थे। दोनों मानवता से प्यार करते थे। दोनों दया और पवित्रता के अवतार थे। महात्मा बुद्ध का उद्देश्य समाज में ब्राह्मणों द्वारा फैलाए हुए रूढ़ियों रीति रिवाजों, यज्ञों आदि के ढकोसलों को समाप्त कर जातपात के बन्धनों से रहित भ्रातृत्वपूर्ण स्वतन्त्र समाज का निर्माण करना था। दयानन्द का उद्देश्य भी सामाजिक कुरीतियों अवैदिक अन्धविश्वासों तथा निरक्षरता व अज्ञानता को समाज से दूर करना था। परन्तु यहां हम एक अन्तर देखते हैं। बुद्ध ने केवल ब्राह्मणों के समाज में एकाधिकार का मुकाबला किया था जहां पर दयानन्द ने न केवल ब्राह्मणों, के वरन इस्लाम, ईसाइयत तथा अन्य पन्थों सभी का डट कर विरोध किया।

बुद्ध और दयानन्द दोनों भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। दोनों विदेशी धर्म व संस्कृति के प्रभाव से अछूते बचे रहे थे। बुद्ध के समय तो बाहर की दुनिया से भारत बेखबर ही था परन्तु दयानन्द के समय में नहीं। फिर भी दयानन्द ने योरुप के प्रभाव से अपने को अछूता रखा यह उनकी महानता है। बुद्ध के समय भारतवासी राजनैतिक तौर पर स्वतन्त्र थे यद्यपि सामाजिक कुरीतियों के पंजों में बुरी तरह फंसे थे। ब्राह्मण लोग अधिनायकों की भांति जनता का अज्ञानता, तथा यज्ञ सम्बन्धी शास्त्रीय क्रिया—पद्धतियों पर जोर डाल अन्धविश्वासों के गढ़े में धकेले चले जा रहे थे। बुद्ध ने इनसे समाज को बचा एक महान कार्य किया। परन्तु दयानन्द का कार्य इससे भी अधिक महान था। दयानन्द के समय के समाज में न केवल अन्धविश्वास, और ब्राह्मणों का धार्मिक क्षेत्र में आतंक ही छाया था वरन् साथ ही में भारतवर्ष पर विदेशी सत्ता व संस्कृति का राज्य था और भारतवासी इस सत्ता के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी दृष्टियों से दास बन चुके थे। ऐसी भारतदुर्दशा के समय दयानन्द ने भारतीय समाज में नवजीवन संचार का सफल प्रयत्न किया। उनके बोए हुए बीज विश्व भर की मानवता को स्वातन्त्र्य की भावना से परिपूर्ण करेंगे और वह समय आएगा जब कि न केवल भारत की जनता वरन् प्राणिमात्र उनके सच्चे रूप को पहचान उन्हें मानवता को महानतम रक्षक पोषक तथा पुनरुद्धारक घोषित करेगा।



धर्मवीर पं० लेखराम आर्य पथिक

धर्मवीर श्री पं० लेखराम

संसार भावमय है। संसार केवल भाव का प्रसार है। भाव ही संसार में शासन करते हैं। मानव-मन में प्रथम भाव का ही अविर्भाव होता है; उसके अनुसार ही वह क्रिया में प्रवृत्त होता है। साधारण मनुष्यों के मानसरोवरों में भावों के आविर्भाव-तिरोभाव की तरंगें सदा उठती रहती हैं। उनके बहुत से भाव दरिद्रों के मनोरथों के समान उत्पन्न होते ही विलीन हो जाते हैं, किन्तु महाशयों के भावकार्य परिणत हुए बिना नहीं रहते। महापुरुषों के भाव तो संसार में हलचल मचा देते हैं, जगत् की बड़ी बड़ी क्रान्तियों के कारण महापुरुषों के भाव ही हुए हैं। संसार के सारे मतमतांतर महापुरुषों के विविध भावों का ही प्रपञ्च हैं। जब किसी महापुरुष के हृदय पर किसी भाव का बलपूर्वक आघात होता है तभी वह संसार में प्रचार पाता है और किसी विशेष मत का रूप धारण करता है। नाना मतों की संस्थापना यही प्रक्रिया और इतिहास भी यही है किन्तु भावों के आघात प्रतिघात का प्रभाव भावुक हृदयों पर ही चिरस्थायी होता है और इस लिए संसार में जितने परिवर्तन, विप्लव, तथा क्रांतियां हुई हैं वे सब भावुक महापुरुषों द्वारा ही हुई हैं जनसाधारण ऐसे भावुक महापुरुषों को उन्मत्त व पागल कह कर हंसता है और वे वस्तुतः अपनी धुन में उन्मत्त वा मस्त रहते हैं। संसार के इतिहास को बनाने वाले विविध धर्मों के संस्थापक अपने विचारों के पीछे पागल बने हुए अपनी धुन के पक्के ऐसे ही उन्मत्त महानुभाव थे। यदि धर्म संस्थापकों की जीवनियों का मनन किया जाए तो यह विशेषता उन सब में सामान्य रूप से उपलब्ध होगी। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर, दयानन्द, गान्धी सभी अपने विचारों के प्रचार में उन्मत्त प्रतीत होंगे। उन के सिद्धान्तों का प्रसार भी संसार में उन के भावुक अनुयायियों के द्वारा हुआ है। बुद्ध के आनन्द आदि प्रमुख भिक्षु, ईसा के पितरस आदि हौवारी, मुहम्मद के अत्युत्साही (जोशीले) अली और उमर आदि खलीफे इसके उत्तम उदाहरण हैं। इसी भांति श्री पं० लेखराम भी महर्षि दयानन्द के अत्यन्त भावुक अनुयायी थे।

आर्य समाज में तो कोई भी ऐसा व्यक्ति न होगा जो धर्मवीर पं० लेखराम आर्यपथिक के नाम और काम को न जानता हो किन्तु आर्यसमाज से बाहर भी करोड़ों मनुष्य पं० लेख राम के नाम से परिचित हैं। पं० लेखराम की भावुकता ही सर्वसाधारण में उनके इस परिचय की मूलकारण बनी थी।

वे पंजाब के झेलम जिले के एक अप्रसिद्ध ग्राम सैदपुर में एक अप्रसिद्ध सारस्वत ब्राह्मण कुल में जन्मे थे परन्तु उनमें अपने पितृकुल की सैनिकवृत्ति से आया हुआ शरीर का गठन तथा क्षात्र तेज का कुछ अंश भी अवश्य विद्यमान था। उनके पितामह महता नारायणसिंह पंजाब के सिक्खकालीन विप्लव के वीर योद्धा थे और कई संग्रामों में अपना हाथ दिखा चुके थे। उन्हीं महता नारायण सिंह के पुत्र महता तारासिंह हुए जिन के पुत्र पं० लेख राम का जन्म ८ सौर चैत्र संवत् १९१५ विक्रमी को शुक्र के दिन उक्त सैदपुर ग्राम में हुआ था।

वे बाल्यकाल से ही भावुक तथा धार्मिक थे। अपने चचा पं० गंडाराम जी को एकादशी का व्रत करते हुए देख कर बालक लेख राम ने ११ वर्ष की अवस्था में बड़ी श्रद्धा से एकादशी का व्रत विधिपूर्वक रखना आरम्भ कर दिया था। उन को बाल्यकाल में केवल उरदू फ़ारसी की शिक्षा मिली थी क्यों कि उस समय पंजाब और संयुक्त प्रान्त में उसी के पढ़ाने की परिपाटी प्रचलित थी। यह शिक्षा आगे चल कर उनके मोहम्मदीमत की आलोचना करने में बहुत सहायक हुई। उन के विद्यार्थि जीवन में केवल यही बात उल्लेख योग्य है कि वे तब भी स्वतंत्रताप्रिय, प्रत्युत्पन्नमति, तथा तात्कालिक उत्तर प्रत्युत्तरप्रवीण थे और कविता की ओर भी उनका कुछ झुकाव था।

संवत् १९६२ के पौष मास में वे अपने चचा पं० गंगा राम इन्सपेक्टर पुलिस की सहायता से पेशावार पुलिस में सारजेंट के पद पर नियुक्त हो गए। ऊपर बतलाया जा चुका है कि पं० लेखराम के बालहृदय में ही भावुकता तथा धार्मिकता का अंकुर विद्यमान था। एक धार्मिक सिक्ख सिपाही के सत्संग से उनकी प्रवृत्ति पूजा पाठ में प्रारंम्भावस्था से ही हो चुकी थी। प्रातःकाल स्नान ध्यान में निमग्न रहते और गुरु मुखी में लिपिबद्ध भगवद्गीता का पाठ किया करते थे। श्री कृष्ण की भक्ति में तन्मय रहते थे। जीव ब्रह्म की एकता के विश्वासी और वैराग्यप्रवण थे। २१ वर्ष की अवस्था में उनके माता पिता ने उनको विवाह बन्धन में आबद्ध करना चाहा पर उन्होंने अपने वैराग्यवश उस को स्वीकार न किया। उन की धर्म जिज्ञासा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई। उन्हीं दिनों उनको लुधियाने के प्रसिद्ध स्वतंत्र विचारक मुंशी कन्हैया लाल अलखधारी के ग्रन्थ पढ़ने का अवसर मिला। अलखधारी जी के ग्रन्थों से उनको ऋषि दयानन्द के आर्य धर्म प्रचार और आर्य समाज की स्थापना का वृतान्त ज्ञात हुआ। और उन्होंने डाक द्वारा ऋषि दयानन्द प्रणीत ग्रन्थों को मंगा कर पढ़ना प्रारम्भ दिया। उससे उनके विचार सर्वथा बदल गए और वे आर्यसमाजी बन गए।

वैदिक धर्मावलम्बी बन कर पं० लेख राम ने संवत् १९३७ के अन्तिम भाग में (सं० १९३६ वे० होना चाहिये) सीमाप्रान्त के यवनप्राय: पेशावर नगर में आर्य समाज की स्थापना की। उस समय पेशावर आर्यसमाज के सर्व सर्वा वे ही थे। वे और उनके चार पांच साथियों से ही आर्यसमाज संगठित था। पं० लेखराम के मन में जीव ब्रह्म की एकता आदि के विषय में शंकायें उस समय तक बनी हुई थीं। उनकी निवृत्ति के लिए उन्होंने स्वयं आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द के दर्शन करने का निश्चय किया और साढ़े चार वर्ष की नौकरी के पश्चात एक मास की छुट्टी लेकर १७ मई सन् १८८० ई० (सं० १९३६ वे०) को अजमेर पहुँच कर सेठ फतहमल जी की वाटिका में ठहरे हुए ऋषि दयानन्द के प्रथम और अन्तिम बार दर्शन किए। इस समागम का वृत्तान्त उन्होंने स्वयं इस प्रकार लिखा है —

स्वामी दयानन्द के दर्शन से यात्रा के सब कष्ट विस्मृत हो गए और उनके सत्योपदेश से सब संशय निवृत हो गए। उहोंने महर्षि से उन से जयपुर में एक बंगाली की उपस्थित की हुई यह शंका पूछी कि जब आकाश और ब्रह्म दोनों सर्वव्यापक हैं तो दो व्यापक एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं। महर्षि दयानन्द ने एक पत्थर उठा कर कहा कि जिस प्रकार इस में अग्नि मिट्टी और परमात्मा तीनों व्यापक हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में आकाश और ब्रह्म दोनों व्यापक हैं। सूक्ष्म वस्तु में भी उससे भी सूक्ष्मतर वस्तु व्यापक रहती है। ब्रह्म सूक्ष्मतम होने के कारण सर्वव्यापक है। पं० लेख राम जी लिखते हैं कि "इससे मेरी शान्ति हो गई।" उन्होंने महर्षि के अन्य संशय उपस्थित करने की आज्ञा देने पर उन से दस प्रश्न पूछे थे। उनमें से तीन उन्होंने उत्तर सहित स्वयं लिखे हैं। शेष उनको विस्मृत हो गए थे।

प्रथम प्रश्न – जीव ब्रह्म की भिन्नता में कोई वेद का प्रमाण बतलाइये।

उत्तर— यजुर्वेद का सारा चालीसवां अध्याय जीव ब्रह्म का भेद बतलाता है।

द्वितीय प्रश्न—अन्य मतों के मनुष्यों को शुद्ध करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर – अवश्य शुद्धकरना चाहिये।

तृतीय प्रश्न—विद्युत क्या वस्तु है और कैसे उत्पन्न होती है ?

उत्तर – विद्युत सब स्थानों में है और रगड़ से उत्पन्न होती है। बादलों की विद्युत भी बादलों और वायु की रगड़ से उत्पन्न होती है।

"अन्त में मुझे आदेश दिया कि २५ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह न करना।" ऋषि दयानन्द के स्वल्प सत्संग से पं० लेखराम के धार्मिक विचार दृढ़ हो गए और वैदिक धर्म पर उनका विश्वास चट्टान के समान अटल हो गया।

अजमेर से लौट कर उन को दिन रात धर्म प्रचार की ही धुन लगी रहती थी। उन्हों ने पेशावर आर्यसमाज की ओर से अपने सम्पादन में "धर्मोपदेश" नामक उर्दू का मासिक पत्र जारी कराया। इस के साथ ही मौखिक व्याख्यान भी प्रायः देते रहते थे। कुछ दिनों पश्चात उनकी बदली पेशावर से अन्य पुलिस स्टेशनों को हो गई। उनकी धार्मिक लगन के कारण उनके विधर्मी अफ़सर उनसे मनोमालिन्य रखने लगे थे। उधर पं० लेखराम की स्वतंत्र आत्मा विगर्हित श्ववृत्ति (सेवावृत्ति) से दिनोंदिन खिन्न होती जाती थी। अन्त में उन्होंने २४ जुलाई सन् १८८४ (स० १६४१ वे०) की सदा स्मरणीय तिथि को, पोलिस की सेवा से त्यागपत्र दे दिया और उसमें यह भी लिख दिया कि दो महीने की कानूनी मियाद के पश्चात मुझको रोकने का अधिकार किसी को भी न होगा। दो महीने पश्चात ३० सितम्बर सन् १८८४ (सं० १६४१ वे) को उन्होंने मनुष्यों के दासत्व से सदा के लिए मोक्ष लाभ किया। इस दासत्व श्रृङ्खला के कटते ही सारजेंट लेखराम, पं० लेखराम बन गए।

अहमदिया सम्प्रदाय और आर्यपथिक लेखरामजी

प्रारम्भ से ही इस्लाम की यह विशेषता रही है कि उसके अंतरिक्ष में समय समय पर अन्धड़ उठते रहे हैं। कोई एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जो मजहब के नाम पर कुछ लोगों को इकट्ठा करके कुछ समय के लिए समाज के वातावरण में हलचल पैदा कर देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में राय बरेली के सैयद अहमद ब्रेलवी नाम के मौलवी ने सिक्खों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा करके एक देशव्यापी उत्पात मचा दिया था। उसके धर्मान्धानुयायी वहाबी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रारम्भ में राजनैतिक स्वार्थ के कारण अंग्रेज़ी सरकार ने सिक्ख राज्य को हानि पहुँचाने के लिए उसे काफी बढ़ावा दिया परन्तु सिक्खों का नाश हो जाने पर जब वहाबी लोग अंग्रेजी सरकार पर ही टूट पड़े तब सरकार ने उनका दमन कर दिया।

जिस राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित होकर अंग्रेजी सरकार ने प्रारम्भ में वहाबियों को बढ़ावा दिया था उसकी प्रेरणा से अलीगढ़ के आन्दोलन का जन्म हुआ और अब हम जिस नए संप्रदाय की चर्चा करने लगे हैं उसके विकास की तह में भी अंग्रेजी सरकार की वही नीति विद्यमान थी। जो व्यक्ति या जो सम्प्रदाय भारत की एकता तथा बढ़ती हुई राष्ट्रियता में विघ्नकारी हो सकता था, सरकार उसकी पीठ पर हाथ रख देती थी, अन्य से चाहे वह कैसा ही बुरा हो। उस युग में पंजाब के गुरदासपुर जिले के कादियां गांव में अहमदिया नाम के जिस सम्प्रदाय ने जन्म लिया वह इसी कोटि का था।

अहमदिया सम्प्रदाय का संस्थापक गुलाम अहमद कादियानी नया पैगम्बर बन कर मैदान में आया। उसने यह दावा किया कि "मुझे खुदा की ओर से इलहाम होता है" और यह भी दावा किया "कि मैं मोजज़े (चमत्कार) कर सकता हूँ।" आश्चर्य यह है कि एक ईश्वर और एक नबी को मानने वाले इस्लाम में सैंकड़ों ऐसे लोग निकल आये जिन्हों ने गुलाम अहमद के इस दावे को ठीक मान लिया और वे उसके शिष्य बन गये। बहुत से मुसलमान मौलवियों की ओर से उसके दावे का विरोध किया गया परन्तु सम्प्रदाय का दायरा बढ़ता गया यहां तक कि पंजाब के बहुत से नगरों में उसके केन्द्र स्थापित हो गये।

गुलाम अहमद बड़ा चतुर व्यक्ति था। पहले से ही उसने ऐसी नीति को अपनाया जिससे सरकार उससे प्रसन्न रही। वह सरकार बर्तानिया का बड़ा प्रशंसक और समर्थक बन गया। उसकी इस नीति का यह परिणाम हुआ कि प्रारम्भ से ही अंग्रेज अफसर उस पर रक्षा का हाथ रखने लगे और अहमदिया लोगों को अपने राज्य का दृढ़ स्तम्भ मानने लगे।

जिन दावों के बल पर अहमदिया संप्रदाय खड़ा हुआ था, आर्यसमाज उनका कट्टर विरोधी था। इस कारण यह स्वाभाविक ही था कि दोनों की परस्पर टक्कर होती। पंजाब के जिस इलाके में कादियानी संप्रदाय का गढ़ था वह आर्य समाज का भी प्रचार क्षेत्र था। जब आर्यसमाज की ओर से मिरजा गुलाम अहमद के दावों का खंडन होने लगा तब वह रुष्ट हो गया और अपने लेखों में न केवल आर्यसमाजियों की निन्दा करने लगा अपितु मुबाहिसे को जगह "मुबाहिला" करने लगा। इस्लाम की भाषा में मुहाबले का अर्थ है शाप देना

यह परिस्थिति तब थी जब धार्मिक वाद विवाद के क्षेत्र में इस वीर पुरुष ने प्रवेश किया।

यों तो पुलिस की नौकरी में रहते हुए ही पंडित जी ने अहमदियों के भ्रमजाल का खंडन आरम्भ कर दिया था, नौकरी से मुक्त हो कर तो वे अपने पूरे आत्मिक बल को लेकर प्रचार–युद्ध के मैदान में उतर आये। लाहौर आकर आपने गुलाम अहमद का एक विज्ञापन देखा जिसमें उसने अपने को खुदा का पैगम्बर घोषित किया था और साथ ही अन्य धर्म वालों को यह चुनौती दी थी कि वे उसके चमत्कारों को झूठा सिद्ध करके दिखायें। यदि कोई गैर मुस्लिम कादियां में एक वर्ष रह कर चमत्कार का कायल न हो तो मिरजा ने उसे चौबीस सौ रुपए जुर्माने के तौर पर देने की भी घोषणा की थी। विज्ञापन पढ़ते ही पंडित जी ने उसे पत्र लिखा जिस में सूचना दी कि मैं तुम्हारे पास एक साल तक रह कर मोजजे का इम्तहान लेने को तैयार हूं। मिरजा तक पंडित लेखराम जी की तर्कशक्ति और निर्भयता की ख्याति पहुंच चुकी थी। वह उन्हें टालने के पत्र लिखता रहा परन्तु पंडित जी इस दम-झांसे में आने वाले कहां थे। वे स्वयं कादियां पहुँच गए और मिरजा के घर पर जा कर उसे ललकारा। जब इस पर भी वह चमत्कार दिखाने को तैयार न हुआ तो आपने कई दिन तक कादियां में वैदिक धर्म पर प्रभावशाली व्याख्यान दिये। उस का परिणाम यह हुआ कि एक जबरदस्त आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

१८८६ ई० में पंडित जी ने "नुसखा खत अहमदियान" नाम की एक और पुस्तक लिखी। यह पुस्तक गुलाम मोहम्मद की "सुरमा चश्म आर्य" के जवाब में लिखी गई थी। इस प्रकार वह लेखों और व्याख्यानों द्वारा अहमदिया सम्प्रदाय के मायाजाल को काटने के साथ-साथ इस्लाम के अन्य प्रचारकों के आर्यसमाज पर किये गये आक्षेपों के उत्तर भी देते रहते थे। अब धीरे-धीरे उन का प्रचार का क्षेत्र बढ़ रहा था। वे विधर्मियों के आक्रमणों के उत्तर भी देते थे और वैदिक सिद्धान्तों के मण्डन में पुस्तकें भी लिखते थे। १८८७ ई० के आरम्भ में फ़िरोजपुर से निकलने वाले सप्ताहिक 'आर्य गजट' के सम्पादक बने और अन्य कई पुस्तकें भी लिखीं। यह जानकर शायद आज के पाठकों को आश्चर्य होगा कि इस प्रकार दिन-रात धर्म की सेवा करने वाला उपदेशक उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा से केवल २५ रुपए मासिक निर्वाह लेता था यह था त्यागभाव जिस ने उस युग में आर्यसमाज के प्रभाव को इतना विस्तृत और प्रबल कर दिया था।

१८८८ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में निश्चय हुआ कि महर्षि के जीवन-वृत्तान्त के संग्रह का कार्य किसी योग्य व्यक्ति के सुपुर्द किया जाये सब की दृष्टि पं० लेखराम जी पर पड़ी। उन्हें यह काम सौंपा गया कि वे देशभर

में घूम कर महर्षि के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं की छान-बीन करें और जहां-जहां महर्षि गए हैं वहां पहुंच कर लोगों से मिलें और यदि कोई लिखित सामग्री मिले उसे भी इकट्ठा करें। पं० लेखराम जी ने यह काम सहर्ष स्वीकार कर लिया और कमर कस कर देशभर में भ्रमण करने के लिए तैयार हो गए। आपके नाम के साथ 'आर्य मुसाफिर' या 'आर्य पथिक का विशेषण तब ही से जोड़ा गया।

दो वर्ष तक अनथक परिश्रम करके आर्य पथिक ने महर्षि के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली जो जानकारी इकट्ठी की वह महर्षि के आज तक लिखे गए सभी जीवन - चरित्रों की आधारशिला है। अन्य लेखकों ने भाषा या क्रम में परिवर्तन किया हो या सम्भव है कोई घटना भी नई जोड़ दी हो परन्तु जीवन चरित्र की रूपरेखा आज भी वही है जो आर्य पथिक ने बना दी थी। यह उनके उग्र परिश्रम और सत्यनिष्ठा का ज्वलन्त प्रमाण है।

———

आर्य-पथिक का बलिदान

पं० लेखराम जी जब महर्षि दयानन्द के जीवन वृत्तान्त की सामग्री एकत्र करने के लिए देश में घूम रहे थे। तब जीवन वृत्तान्त की सामग्री एकत्र करना तो एक प्रत्यक्ष निमित्त था। पंडित जी की शक्तियां केवल उतने कार्य तक परिमित कैसे रह सकती थीं। उनके हृदय में प्रचार की अग्नि जल रही थी। जहां जाते थे व्याख्यानों की झड़ी लगा देते थे। बीच-बीच में शास्त्रार्थ भी होते थे। साथ-साथ लिखने का कार्य भी चलता जाता था। आर्यपथिक जैसे अनथक वक्ता थे वैसे ही अनथक लेखक भी थे। अपनी थोड़ी-सी आयु में उन्होंने जितने व्याख्यान दिये और ग्रन्थ या लेख लिखे, उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि शायद जीवन का एक क्षण भी उन्होंने अपना नहीं समझा था। सब कुछ महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के अर्पण कर दिया था।

उनके लेख सम्बन्धी कार्यों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले हिस्से में हम उन लेखों को रख सकते हैं जिनमें सामान्य रूप से इस्लाम और विशेषतः अहमदिया सम्प्रदाय के आचार्य मिरजा गुलाम अहमद कादियानी की कड़ी आलोचना की गई थी। पंडित जी उर्दू, फारसी के विद्वान् थे। उनका उर्दू

लेखकों में बड़ा रौब था। संस्कृत का भी उन्होंने अच्छा अभ्यास कर लिया था। इस कारण पंडित जी के लेखों में युक्ति, प्रमाण और व्यंग्यों का बहुत सुन्दर मिश्रण रहता था। इस श्रेणी के ग्रन्थों में 'नुसखा खफ्त अहमदिया' और 'तकजीब बुराहीन अहमदिया' यह दो विख्यात पुस्तकें थीं। ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भी आपने कई लेख लिखे। दूसरी कोटि के ग्रन्थ और लेख अपने ढंग के अनूठे थे। वे थे अनुसन्धानात्मक। पहले ग्रन्थ का नाम था 'सृष्टि का इतिहास'। इसमें ऐतिहासिक और शास्त्रीय अनुसन्धान के आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास की कई घटनाओं का विवरण दिया गया था। दूसरे ग्रन्थ में आवागमन के पक्ष में युक्तियों के अतिरिक्त विपक्षियों द्वारा किये गए आक्षेपों के उत्तर भी दिये गए हैं। पुनर्जन्म के पक्ष में २७ युक्तियां दी गई हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने अपने शास्त्रों के अतिरिक्त बीसियों अंग्रेजी के ग्रन्थों से भी लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं जो अधिक आश्चर्यजनक हैं क्योंकि पंडित जी अंग्रेजी बिल्कुल नहीं जानते थे। वह दूसरों से अंग्रेजी की पुस्तकें और अखबार सुना करते थे और उसमें से जिन उद्धरणों की आवश्यकता होती थी उसका अनुवाद करा लेते थे। कभी-कभी एक उद्धरण के अनुवाद तीन-तीन व्यक्तियों से कराते थे, और उनकी तुलना करके जिसे अधिक प्रामाणिक समझते थे, उसे पुस्तक में देते थे। उनके परिश्रम को देख कर आश्चर्य होता है। जो व्यक्ति रात-दिन भ्रमण करता रहे, जहां जाये वहां व्याख्यानों या शास्त्रार्थों में व्यस्त रहे वह अनुसन्धान से भरे ग्रन्थ लिख सके और वह भी आयु के केवल उनतालीस वर्षों में। इसे इच्छाशक्ति का चमत्कार ही समझना चाहिए।

खंडनात्मक लेखों में पंडित जी की भाषा बहुत जोरदार रहती थी। ओज उनका स्वाभाविक धर्म था। जब वह पेशावरी साफा, बन्द गले का कोट और पंजाबी ढंग का पाजामा पहन कर निकलते थे, तब देखने वालों को यह बिना कहे ही भान हो जाता था कि वह असाधारण व्यक्ति हैं। स्वस्थ शरीर, शेर जैसा गम्भीर स्वर और तेज से चमकती हुई आंखों को देख कर उनकी कार्यशक्ति का अनुमान लग जाता था। प्रसिद्ध शिष्टाचार या तकल्लुफ जैसी वस्तु उनके पास भी नहीं फटक सकती थी। एक बार वह उत्तरप्रदेश में प्रचार के दौरे पर गए। वह खाना खा चुके और थाली से हाथ खींच लिया, तब भी शिष्टाचार के नियम के अनुसार परोसने वाले सज्जन ने खाना देने का आग्रह जारी रक्खा। यह बात पंडित जी को बहुत अखरी और उन्होंने परोसने वाले को डांटते हुए कहा कि क्या मैं झूठ कहता हूँ कि मुझे और भूख नहीं है।

एक दूसरे अवसर पर भोजन के बाद विचारे गृहपति ने सभ्यता के विधि-विधान का पालन करते हुए पान पेश किया। आपने डांट लगाई, "क्या मैं बकरी

हूं जो पत्ते खाऊंगा।" यज्ञ में बैठे हुए महाशय हाथ में चन्दन का रस लेकर आपके माथे पर लगाने लगे। आपने अपना हाथ आगे करते हुए कहा, 'मेरे हाथ पर चन्दन लगा दो, माथे पर लगाओगे तो मुझे जुकाम हो जायेगा।"

लेखों और पुस्तकों के प्रकरण में पंडित जी की इन विशेषताओं की चर्चा मैंने इसलिए की है कि उनके स्वभाव का यथार्थ रूप प्रकट हो जाये। उनके व्यवहार में एक विशेष खुरदरापन था जो वस्तुतः उनके अत्यन्त सरल परन्तु ओजस्वी हृदय का परिणाम था। उन पर कवि का यह वचन पूर्ण रूप में लागू होता था :—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

असाधारण मनुष्यों के चित्त वज्र से भी कठोर परन्तु फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। उनके रहस्य को कौन समझ सकता है। उनके भाषणों के समान लेखों में भी भावों की सरलता के साथ कहीं-कहीं भाषा की कठोरता मिश्रित दिखाई देती है।

पं० लेखराम जी कई मासिक पत्रों के सम्पादक रहे। जब वे पेशावर में पुलिस में नौकर थे तभी आपने 'धर्मोपदेश' नाम का मासिक पत्र निकाला था। वह कुछ दिन चल कर बन्द हो गया। जब नौकरी छोड़ कर आप आर्यसमाज के प्रचारकार्य में लवलीन हो गए, तब आप 'आर्य गजट' के सम्पादक बने। आर्य गज़ट का मुख्य उद्देश्य वैदिक सिद्धान्तों का मंडन और विरोधियों के आक्षेपों का खंडन करना था। थोड़े ही दिनों में सम्पादक के युक्तियुक्त ओजस्वी लेखों ने आर्यों और आर्येत्तरों के मन पर 'आर्य गजट' की धाक बैठा दी। ऋषि दयानन्द की जीवनी के लिए सामग्री संग्रह करते हुए जब आप अजमेर पहुंचे तब आर्यसमाज की सफलता को सूचित करने के लिए 'आर्य विजय' नाम का सामयिक पत्र निकलवाया।

१८९३ में पंडित जी की आयु ३५ वर्ष की हो चुकी थी। उस वर्ष आप सभा से अवकाश लेकर घर गए और मरी पर्वत के एक गांव की कुमारी लक्ष्मी देवी से विवाह किया। सामान्य मनुष्यों के लिए विवाह जीवन का एक नया पड़ाव समझा जाता है जिसके पश्चात् उसकी दिनचर्या बदल जाती है। परन्तु आर्य

पथिक साधारण मनुष्य नहीं थे। जीवन में परिवर्तन करने वाला विवाह तो बहुत पहले धर्म प्रचार की उग्र भावना से हो चुका था। लक्ष्मी देवी जी से उनका विवाह तो वैदिक आश्रम व्यवस्था की पूर्ति के लिए ही हुआ। विवाह के पश्चात् भी उन्हें केवल प्रचार की ही धुन थी। शायद कोई सप्ताह ऐसा हो जब घर पर गृहस्थों की तरह रहे हों। प्रचार के क्षेत्र में यत्र तत्र-सर्वत्र गरजते हुए सुनाई देते थे। १८९५ में आपके पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम सुखदेव रक्खा गया। परन्तु वह अधिक समय तक इस आर्य युगल को सुख न दे सका। लगभग एक वर्ष तक जीवित रह कर २८ अगस्त १८९६ के दिन शिशु सुखदेव ने अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर दी। अभी बच्चे की माता रो ही रही थीं कि एक समाज से बुलावा आगया। आप बिस्तर बाँध कर चल दिये। लक्ष्मी देवी को आश्वासन देने का काम पंडित जी के मित्रों को करना पड़ा। लक्ष्मी देवी सचमुच देवी थीं। वे अपने पति की ऊँची भावनाओं से अनभिज्ञ नहीं थीं। उनके मुंह से कभी किसी ने यह शिकायत नहीं सुनी कि वे परिवार की ओर ध्यान नहीं देते। विवाह के बाद उस देवी ने अपने आपको आर्य पथिक का ही एक आवश्यक अवयव मान लिया था।
गृहस्थ हो जाने पर भी आर्य पथिक की यात्राओं में कमी नहीं हुई। जहां भी धर्म-चर्चा का डंका बजता था वहां मोर्चे पर पंडित जी दिखाई देते थे। यह उनके सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन की चर्या थी। मिरजा गुलाम अहमद ने कादियां से धमकी दी तो निर्भय सिपाही शत्रु के दुर्ग में जा धमका। हैदराबाद सिन्ध और बूँदी जैसे एक दूसरे से दूरस्थ स्थानों से जब यह समाचार मिले कि कोई आर्य धर्मावलम्बी विधर्म में जा रहा है तो आप तुरन्त वहां पहुँच गए और रक्षा कर ली। जब पंजाब में आर्यसमाज के दोनों दलों में मांस-भक्षण पर झगड़ा चला तब पंडित जी अपनी प्रकृति के अनुसार पूरे जोर से मांस-भक्षण के विरुद्ध आन्दोलन करने लगे। लाहौर में हों या जोधपुर में, जहां से आपको यह बू भी आ जाती मांस-भक्षण पर विवाद चल रहा है, वहां आप दौड़ कर पहुंच जाते और वाद-विवाद की कमान अपने हाथ में ले लेते। १८९४ के पश्चात् आप यह भी सोचने लगे थे कि इस्लामी देशों में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार करें।

इसी प्रकार की घटना जोधपुर में हुई। उसमें जहां आर्य पथिक की दृढ़ सिद्धान्त-भक्ति का प्रमाण मिला, वहां इसका भी एक दृष्टान्त प्रकट हो गया कि सच्चे और झूठे विश्वास में क्या भेद होता है। जोधपुर के राजा कर्नल प्रतापसिंह महर्षि दयानन्द के शिष्यों में से थे। उनकी वैदिक धर्म के सिद्धान्तों में श्रद्धा थी परन्तु एक विषय में अन्य आर्यपुरुषों से मतभेद था। वे मांस-भक्षण करते थे। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते थे कि महर्षि दयानन्द क्षत्रियों द्वारा मांस-भक्षण

को वेदविरुद्ध नहीं मानते थे। उनके पास दोनों पक्षों के विद्वान् जाते और अपनी सम्मति देते थे। धीरे-धीरे यह चर्चा फैल गई कि कर्नेल प्रतापसिंह को प्रसन्न करने और उनसे भेंट लेने का एक ही उपाय है कि उनके सामने वेद तथा शास्त्रों के प्रमाणों से क्षत्रियों के मांस-भक्षण का समर्थन किया जाये। कुछ सन्यासी और पंडित जोधपुर जाकर जम गए। उनका यही काम था कि राजा साहब क हां में हां मिला कर पारितोषिक प्राप्त करें। इटावा के पं० भीमसेन शर्मा का नाम तीसरे कांड में आ चुका है। उनकी गिनती ऋषि के शिष्यों में की जाती थी। वे महर्षि के वेद भाष्य आदि ग्रन्थों के निर्माण में लेखक का कार्य करते थे। उस समय के पत्र-व्यवहार के देखने से प्रतीत होता है कि महर्षि अपने इस शिष्य के व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं थे। वे उसे पूरा विश्वासपात्र नहीं मानते थे। कर्नल प्रतापसिंह के सलाहकार साधुओं ने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए पं० भीमसेन को जोधपुर निमन्त्रित किया। भीमसेन जी उससे पूर्व अपने मासिक पत्र 'आर्यसिद्धान्त' में मांस-भक्षण का खण्डन कर चुके थे। जोधपुर पहुंच कर मांस-भक्षण के पक्ष में सम्मति देने में थोड़ा बहुत संकोच किया परन्तु अन्त में इस रूप में सहमति प्रकट कर दी कि यदि क्षत्रिय हानिकारक पशुओं को मार कर उनका मांस खा लें तो कोई पाप नहीं। यह समाचार जब पं० लेखराम जी को मालूम हुआ तो वे तुरन्त जोधपुर जा पहुँचे और भीमसेन के कन्धे पर जोर से हाथ मारते हुए कहा, 'ईश्वर जानता है, यदि तूने महाराज के पास जाकर साफ-साफ यह न कह दिया कि मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध है, तो तुझे आर्यसमाज में या किसी और धार्मिक सोसायटी में मुँह दिखलाने लायक न छोड़ूँगा।" भीमसेन जी पर पं० लेखराम जी की सिंहगर्जना का ऐसा प्रभाव हुआ कि मन का लोभ दब गया और भय प्रधान हो गया। दूसरे दिन महाराज के पास विदा के लिए जाने के समय शर्मा जी ने दृढ़ता से कह दिया कि मांस-भक्षण वैदिक धम के विरुद्ध है।

इन्हीं दिनों अमेरिका के शिकागो नगर की प्रदर्शिनी की तैयारियां हो रही थीं। आर्यसमाज की ओर से कोई विशेष प्रतिनिधि भेजने का विचार हो रहा था। लेखराम ने एक अपील छपवा कर मार्गव्यय और एक अंग्रेज़ी के सुयोग्य विद्वान् की सेवा मांगी। यद्यपि कोई तैयार न हुआ परन्तु इससे उनका धर्म के प्रति उत्कट प्रेम सिद्ध होता है। यदि वे अंग्रेजी जानते होते तो अवश्य अमेरिका जा पहुंचते।

६ अप्रैल १८६४ को सूर्यग्रहण के मेले पर कुरुक्षेत्र में आर्य समाज की ओर से प्रचार का प्रबन्ध किया गया। महात्मा मुंशीराम के साथ पंडित लेखराम भी

वहां गये। वहां पर उनका व्याख्यान बड़ा चित्ताकर्षक हुआ जिस का विषय था—धर्म की असलियत और उसका आन्दोलन। शंका समाधान भी यही करते थे। ७,८,६ अप्रैल को करनाल आर्यसमाज के उत्सव पर दो व्याख्यान दिये और शंका समाधान की। पण्डित लेखराम के पांव में एक फोड़ा हो गया था जो चलने फिरने से खराब हो गया था। पण्डित जी ने कुछ सभासदों से पूछा-किसी आर्य डाक्टर के पास मुझे ले चलो तो फोड़ा दिखाऊं। एक अधिकारी ने किसी मुसलमान का नाम लिया तो इन्होंने पूछा—क्या कोई आर्य डाक्टर नहीं है? इस पर किसी आर्य सज्जन ने कहा—इलाज में आर्य अनार्य्यपना क्या घुसा है? यह सुनते ही आर्य पथिक की आंखें लाल हो गई और बोले-खाक आर्य समाज है। एक डाक्टर को भी आर्य नहीं बना सकते। 'इस पर महात्मा मुन्शीराम जी ने हंस कर कहा—क्या जिस समाज का कोई डाक्टर सदस्य न हो तो क्या उसे आर्य समाज ही नहीं कहा जाए। लेखराम ने कुछ गम्भीर होकर कहा—जिस आर्य समाज ने डाक्टरों, स्कूल के अध्यापकों और विद्यार्थियों को आर्य नहीं बनाया उसने क्या खाक काम किया? जड़ को सींचने से ही वृक्ष हरा होता है।"

पण्डित जी सन्ध्या वन्दन में बड़े पक्के थे। एक बार इन्हीं महात्मा मुन्शीराम जी के साथ शिक्रम में लुधियाना से जगरांव जा रहे थे, मार्ग में पानी लेकर शौच गये। लौटने पर पता लगा कि हाथ पैर धोने और कुल्ला करने के लिए पानी नहीं है। सन्ध्या का समय हो चुका था। पण्डित जी सन्ध्या करने बैठ गये! जब सन्ध्या समाप्त कर चुके तब एक व्यक्ति ने दिल्लगी में पूछा-पण्डित जी! क्या पेशावरी सन्ध्या कर चुके! पण्डित जी ने गम्भीर स्वर में कहा—तुम पापी हो जो बिना पानी मिले ब्रह्मयज्ञ नहीं कर सकते। भोले भाई! स्नान कर्म्म है, हुआ वा न हुआ। परन्तु सन्ध्या धर्म है और उसका न करना पाप है। पण्डित जी व्यायाम भी नित्य किया करते थे।

पण्डित जी ज्वर से निर्बल हों, सफर से थके हुए हों, पुत्र मृत्यु शय्या पर लेटा हो परन्तु कहीं से समाचार आ जाये कि अमुक व्यक्ति को मुसलमान होने से बचाने के लिए आइये,वे तत्काल चल देते थे। उन्होंने जो अपनी दिनचर्या बनाई थी, उस में यह भी लिखा था—"कटु वचन तथा झूठ से अलग रहना और "दीन-ए-इसलाम" की विषयुक्त शिक्षा के बुरे प्रभाव को दूर करने का प्रयत्न, और इसी प्रकार दूसरे मतों का भी, और वैदिक धर्म का प्रचार। ईश्वर! मेरी इच्छा को आप पूर्ण कर दो।" यह पंक्तियां स्वयं लेखराम के धर्म सेवा की लगन को बोल कर कह रही हैं। शुद्धि की तो अनेक घटनायें हैं। एक यह है।

एक बार इन्हें कहीं से पता लगा कि पायल (पटियाला रियासत) में अमुक व्यक्ति आर्य धर्म को छोड़ रहा है। आप ट्रेन पर सवार हो चल दिये। जब गाड़ी लुधियाना से आगे चली, एक व्यक्ति ने इन से पूछा कि आप कहां जायेंगे ? उन्होंने कहा—चावा पायल। उसने कहा वहां तो गाड़ी ठहरती नहीं। इन्होंने कहा-अच्छा देखो मुझे तो बड़ा जरूरी काम है। जब गाड़ी चावा-पायल स्टेशन पर पहुंची और न रुकी तब आपने बिस्तर बाहर फैंका और गाड़ी से कूद गये। कपड़े फटे और कुछ चोट भी आई। वहां से चल कर पायल पहुंचे और समाज के मंत्री से कहा-अमुक व्यक्ति के पास चलो। दैवयोग से वह व्यक्ति मिल गया। पण्डितजी ने उससे कहा कि मैंने सुना है कि आप हिन्दू धर्म को छोड़ कर अन्य मत में जा रहे हैं। कृपया आप बताइये कि इस मत में क्या दोष है तथा उस मत में क्या विशेषता है जिस से आप इसे छोड़कर उसे ग्रहण कर रहे हैं। उस व्यक्ति ने कहा-पहले आप यह बतायें की आप की यह दशा क्यों है? कपड़े फटे हैं, शरीर में खोंच के निशान हैं। पण्डितजी ने कहा—आप के लिये आया था। गाड़ी स्टेशन पर नहीं रुकी, अतः कूद कर उतरा हूं। उसने उतर दिया-पण्डित जी ! जिस मत में आप जैसे जान पर खेलने वाले पुरुष हैं, मैं उस धर्म को नहीं छोड़ सकता।

लेखराम जी को दुनियां की परवाह नहीं थी। अपनी आत्मा को देखते थे। एक बार कहीं से प्रचार करते हुये जालन्धर आये। वर्षा में कपड़े भीग चुके थे। धोने और सुखाने का समय नहीं था। दूसरे ही दिन जरूरी प्रोग्राम पर जाना था। उन्होंने महात्मा मुंशीराम जी से कपड़े लिये। साफ कमीज को अन्दर पहना और मैले को ऊपर पहन लिया। उन्होंने पूछा—पण्डित जी यह क्या किया। लेखराम जी ने उत्तर दिया— दुनिया की परवाह मुझे थोड़े ही है। वह तो यही कहेगी कि कपड़े मैले हैं। शरीर के साथ का कपड़ा स्वच्छ होना चाहिये, मैले कपड़े पहनने से तो मैं ही रुग्ण होऊंगा। बाहरी टीपटाप की उन्होंने कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की। आन्तरिक स्वच्छता का ध्यान अधिक था। कपड़ों के बनाव चुनाव को जनानापन कहा करते थे।

उन में मितव्यता थी और ईमानदारी। जहां कुली से असबाब उठा कर ले जाने में बचत होती वहां इक्का गाड़ी नहीं करते थे। जहां कहीं उतरने से इनका काम भी होता वहां सभा से किराया नहीं लेते। एक बार सभा के कार्यालय में पण्डित जी का बिल आया। जिस में उन्होंने सहाले से लाहौर तक का किराया तो लिखा था। लाहौर से साहला तक का नहीं लिखा था। मंत्री के पूछने पर आपने उत्तर

दिया—लाहौर से सहाले तक का किराया मैंने जान बूझकर नहीं लिखा क्योंकि वहां आधा कुछ मेरा निज का काम था और ऐसा किराया मैं वसूल नहीं किया करता।

आर्य पथिक में किस प्रकार की निर्भयता थी और वदिक धर्म के प्रचार और प्रसार के लिये उन का हृदय किस प्रकार कार्य कर रहा था—इस सम्बन्ध में एक दो घटनाओं का ज़िक्र करना अप्रासंगिक न होगा। पण्डित लेखराम मार्च १८९६ में अजमेर के उत्सव में सम्मिलित हुये। नगर कीर्तन में उनके व्याख्यान और बात चीत से कुछ मुसलमान भड़क उठे। ख्वाज़ चिश्ती की दरगाह पास थी आर्य भाई डर कर भाग गये। लेखराम अकेले रह गये। उन्होंने कहीं से सुना था कि विधर्मी के धर्ममन्दिर से तीस कदम की दूरी पर प्रत्येक धर्म प्रचारक को अपने मत के समर्थन का अधिकार है। आप दरगाह के द्वार पर पहुंचे और उच्च स्वर से कदम गिनना शुरू किया। मुसलमान इनकी हरकतों को अचरज की निगाह से देख रहे थे। तीसवें कदम पर पहुँच कर लेख राम ने धर्म प्रचार शुरू कर दिया। कब्रपरस्ती और मर्दुमपरस्ती का जबर्दस्त खंडन किया। जब पीछे से कुछ आर्यसमाजी चुपके से लेख राम की हालत देखने गये तो वे आश्चर्यस्तम्भित हो गये। सहस्त्रों मुस्लिम जनताकी बड़ी संख्या को उन्होंने वक्ता के आधीन पाया।

जुलाई १८९६ में शिमला में पण्डित जी ने अपने अन्तिम व्याख्यान में इस विषय पर प्रमाण दिये कि इस्लाम के पैग़म्बरों ने खुदाई का दावा करके कुफ्र फैलाया है। मुस्लिम मण्डली में से एक युवक से न रहा गया। उसने चीख कर कहा—काफिरों को काटने वाली महम्मदी शमशीर को मत भूल। लेखराम एक क्षण रुक गये और जिधर से आवाज आई थी, उधर मुँह करके गरजते हुये बोले—"मुझे बुज़दिल महम्मदी तलवार की धमकी देता है। मैंने अधर्मी निर्बल मनुष्यों से डरना नहीं सीखा। जानते नहीं हो मैं जान हथेली पर लिये फिरता हूं।" सारी सभा में सन्नाटा छा गया और फिर किसी ने चूँ तक नहीं की।

पण्डित जी की ऊहा बुद्धि तो कमाल की थी। उसकी एक घटना और पढ़िये। गुजरात आर्य समाज में आर्य्य पथिक मुसलमानों के "हराम हलाल" मसले पर बोल रहे थे। पण्डित जी का कहना था कि जो जानवर कमज़ोर है वह तो मुसलमानों के लिए हलाल हैं। जो जबर्दस्त हैं वे हराम हैं। इस पर एक मौलवी ने एतराज़ किया कि क्या चुहिया भी हमारे मज़हब में जबर्दस्त होने से ही हराम है। पण्डित जी ने उनसे पूछा कि मौलवी साहब आप शिया हैं या सुन्नी?

उत्तर मिला—शिया। तब पण्डित जी ने उत्तर दिया —"मौलवी, मुझे आप का कथन सुन कर हंसी आती है। आप शिया होकर चूहे की बुजुर्गी और जबर्दस्ती से इन्कार करते हैं। यही नामुराद चूहा था कि जिसने कर्बला के मैदान में पानी की मशकें काट दीं और बेचारे इमाम हुसैन को प्यासा मरवाया। अगर ऐसे दो तीन और जबर्दस्त पैदा हो जायें तो अरब और ईरान में कर्बला की सी कई घटनायें हो जायें।" श्रोतागण यह जवाब सुन कर हंस पड़े। मौलवी साहब ने तो चुप हो ही जाना था।

इतनी तेजस्विता और इतनी तेजी साधारण संसार में बहुत देर तक नहीं चल सकती। कुछ काल के पीछे दैव ही उसका रास्ता रोकने का उपाय सोचने लगता है। महर्षि के जीवन की सामग्री एकत्र हो जाने पर जब आपने उसे लिखने का काम आरम्भ किया तब आप जालन्धर में रहने लगे। उस समय जालन्धर आर्यसमाज का बहुत बड़ा केन्द्र बन चुका था। उसके संस्थापकों में दो महानुभाव मुख्य थे—एक ला० देवराज जी और दूसरे ला० मुन्शीराम जी लाला देवराज जी कन्या महाविद्यालय के संचालन में एकाग्रता से लग गए और ला० मुन्शीराम जी पहले जालन्धर आर्यसमाज के प्रधान और फिर प्रचार का कार्य बढ़ जाने पर आर्य प्रतिनिधि सभा के भी प्रधान बने। इसके अतिरिक्त आपने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम के साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। पं० लेखराम जी का उनसे बहुत प्रेम था। जीवन के अन्तिम हिस्से में तो आर्य-पथिक मानो उनके अभिन्न मित्र बन गए थे। दोनों की प्रकृतियों में अन्य कई प्रकार के भेद होते हुए भी यह बहुत बड़ी समानता थी कि दोनों ही पूर्णरूप से निर्भय थे और वैदिक धर्म में अटल विश्वास रखते थे। पण्डित जी को जालन्धर में रहने से एक यह भी लाभ था कि सद्धर्म प्रचारक प्रेस से पुस्तकों की छपाई में भी बहुत सहायता मिल सकती थी।

१८९७ के आरम्भ में वह जालन्धर छोड़ कर लाहौर चले गये। यह स्थान परिवर्तन किसी निमित्त से हुआ या दैवयोग से यह कहना कठिन है। कहा जा सकता है कि यदि कोई निमित्त भी था तो उसका कारण ईश्वरेच्छा था। आर्य पथिक को अमर पदवी मिलनी थी यह भी उसका एक कारण बन गया। मिरजा अहमद कादियानी के साथ इनका विवाद रहता ही था और धीरे धीरे जब मिरजा के पास आर्य-पथिक की जबरदस्त युक्तियां का कोइ उत्तर न रहा तो वह धमकियां पर उतर आया। मुबाहिसे में

हार कर मुबाहिला (शापों का आक्रमण) जारी कर दिया। गुलाम अहमद ने यह भविष्य वाणी की कि यदि मैं सच्चा हूं और लेखराम झूठा है तो एक साल के अन्दर अन्दर खुदा की मार पड़ेगी। इसके उत्तर में पण्डित लेखराम जी ने यह आशीर्वाद दिया कि ईश्वर की ऐसी कृपा होगी कि मिरजा झूठ को छोड़ कर सच को मानने लगेगा। मिरजा ने जो भविष्यवाणी की, प्रतीत होता है कि उसकी पूर्ति के उद्योग में भी कोई कसर न छोड़ी।

पण्डित जी के बलिदान की घटना का संक्षिप्त और हृदयस्पर्शी वर्णन आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के इतिहास के यशस्वी लेखक पं० चमूपति जी के शब्दों में पढ़िये। वे अपने इतिहास में लिखते हैं—

"मार्च १८९७ के आरम्भ में एक कुरूप मुसलमान इनके पास शुद्धि के लिए आया इन्होंने उसका आगा पीछा कुछ नहीं पूछा। पूर्ण विश्वास-पूर्वक अपने पास रख लिया। दिन को वह इनके पास रहता और रात को अन्यत्र कहीं चला जाता। इन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि वह रात को कहां रहता है?

"६ मार्च को वह कम्बल ओढ़ कर आया और कांपने लगा। पूछने पर उसने बताया कि उसे बुखार और पेट का दर्द है। पण्डित जी उसे डाक्टर के पास ले गये। डाक्टर ने कम्बल उतार कर लेप करना चाहा पर उसने पीने की दवाई मांगी। इन्होंने वही ले दी। एक बजाज की दुकान पर ले जाकर माता जी को दिखाने के लिए उसे कपड़े ले दिये। बजाज ने सावधान किया कि यह भयंकर आकृति का मनुष्य मृत्यु की मूर्ति प्रतीत होता है। परन्तु पण्डित जी तो आज स्वयं मृत्यु से ही प्यार करने चले थे। यम के दूत को ही कभी का घर पर निमन्त्रण दे रखा था। उसी को मानो यह सद्धर्म का पिपासु समझते रहे थे।

"घर पर आकर ऋषि की जीवनी लिखने बैठे। वह भी पास की एक कुर्सी पर बैठ गया। ज्यों ही थक कर उन्होंने कलम रखा और छाती खोल कर अंगड़ाई लेनें लगे, उस अभ्यस्त हत्यारे ने वहीं छुरी निकाल कर इनके पेट में घोंप दी। और घुमा-घुमा कर एक आंतड़ी तो काट ही डाली और आठ बड़े और अनेक छोटे घाव कर दिये। पण्डित जी ने एक हाथ से अपनी अंतड़ियों को संभाला और दूसरे हाथ से उससे दस्तपंजा लिया। इसी कशमश में सीढ़ियों तक पहुँच गये देवी लक्ष्मी ने पहुंच कर इन्हें रसोई में धकेल दिया और वृद्धा माता ने घातक को जा पकड़ा। पर इतने में हत्यारे के हाथ बेलन आ गया जिसकी दो चोटों से

उसने माता जी को अचेत कर नीचे फेंक दिया और अपने आप यह जा वह जा आन की आन में आंख से ओझल हो गया।

"इस घायल अवस्था में पण्डित जी को हस्पताल लेजाया गया। वहां भी इनका प्रभु पर विश्वास एवं अटूट धैर्य नहीं टूटा, नहीं टूटा। गायत्री तथा 'विश्वानि देव' का पाठ ही करते रहे। मरते दम तक न माता की चिन्ता थी न प्राणप्रिया लक्ष्मी की। चिन्ता थी तो इस बात की कि 'आर्यसमाज से तहरीरी काम बन्द नहीं होना चाहिये।' यह कहा और रात के दो बजे शरीर छोड़ दिया।

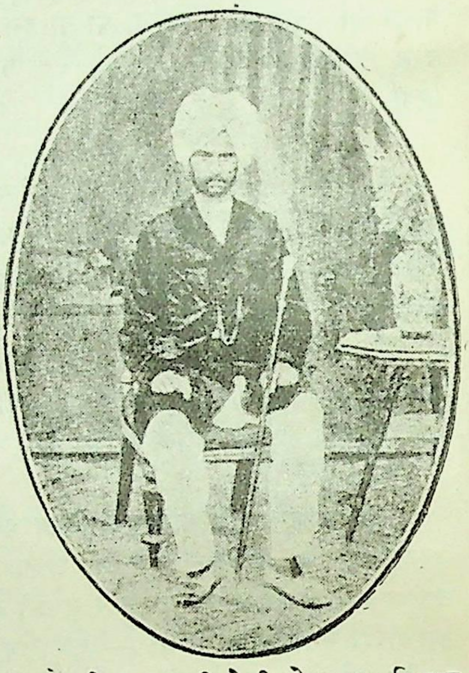
"वीर की अर्थी के साथ सहस्त्रों मनुष्यों का तांता लग रहा था। लाहौर के नरनारी इस निर्भीक युवक के बलिदान पर अत्यन्त क्षुब्ध थे। पृथ्वी पर हर जगह फूल ही फूल दीखते थे। गुलाब के पानी के कंटर पर कटर बहा दिये गए। आर्य जाति में एक नई स्फूर्ति थी; नया आवेग था। प्रतीत यह होता था कि एक धर्मवीर के बलिदान ने सम्पूर्ण जाति को नया जीवन प्रदान कर दिया है। पवित्रता का पारावार था। उत्साह ठाठें मार रहा था। साहस की बाढ़ आ गई थी। जिधर देखो कर्मण्यतापूर्ण वैराग्य था।

'श्मशान भूमि में अद्भुत दृश्य था। शहीद की चिताग्नि ने मानो सब नरनारियों के परस्पर भेदों को जलाकर राख कर दिया था। सबके मन में जो भाव था उसे लाला मुन्शी राम जी ने अपने भावुकता से भरे हुए भाषण में इन शब्दों में प्रकट किया था —"हम सब को चाहिए कि हम वीर की चिता के समीप खड़े हो कर यह प्रतिज्ञा करें कि आपस की फूट को हटाकर प्रेमपूर्वक मिलकर काम करेंगे। यदिफूट चलती रही तो मेरे लिए काम करना तो बहुत असम्भव हो जाएगा।"

"श्मशान भूमि के भाषणों में पंडित जी का यह वाक्य सुनाया गया कि 'मेरे पीछे तहरीर का काम बन्द न होने पावे।' आर्य नेताओं ने उपस्थित जनता के सामने संकल्प प्रकट किया कि तहरीर के काम को बन्द न होने देंगे।" किन्तु क्या इस प्रतिज्ञा का हम पालन कर सके?

पं० तुलसी राम जी

पण्डित तुलसीराम का जन्म जिला गुरदासपुर में डेरा बाबा नानक के समीप रुडा ग्राम में हुआ था। ये पवित्र पुञ्ज वंश के ब्राह्मण थे। इनके पिता श्री हरिराम जी थे जो साहूकार का काम करते थे। आपके दो छोटे भाई और एक बहन थी जिसका नाम लक्ष्मी देवी था। बचपन में ही माता आपको छोड़ स्वर्ग सिधार गई। १२ वर्ष की आयु में पिता की छाया भी आप पर से उठ गई।



गुरदासपुर के गवर्नमेंट हाई स्कूल से आपने दसवीं की परीक्षा पास की। इसके बाद रुड़की ओवरसियर क्लास में पढ़ने चले गये। वहां आठ महीने पढ़ते रहे। पश्चात् बीमार हो जाने से छाड़ कर चले आये और रेलवे में नौकरी कर ली और लोधरा स्टेशन पर लगे। जब आप सनावा में असि० स्टेशन मास्टर थे तब बटाला मे श्री लाजवन्ती देवी से उनका विवाह हुआ। आपने रसीदा, मुलतान छावनी, पत्तोकी, मुरीदके, शोरकोट रोड, दाउदखेल, फरीदकोट इन स्टेशनों पर कार्य किया।

आप में आर्यसमाज के कार्य करने की बड़ी लगन थी। आर्य समाज का संस्कार उनमें गुरुदास पुर में पढ़ते हुए मास्टर मुरलीधर जी से आया था। आप जहां जाते आर्य समाज का प्रचार करते थे। यदि समाज नहीं होती तो नई समाज की स्थापना करते और यदि होती तो यथा शक्ति उसकी उन्नति करते थे। रेलवे कार्य काल के बाद अपना समय प्रचार में लगाते थे। और कई बार रात को दो दो बजे घर लौटते थे।

सनावा में वे लगभग सन् १९०० में थे। सनावा में आर्य समाज से लोग अनभिज्ञ थे। आप अपनी ड्यूटी के बाद सनावा नगर (जि० मुजफ्फरगढ़) में और आसपास के ग्रामों में प्रचार करते थे। गुरमानी में उनके प्रेमी चौधरी रत्नचन्द जी थे। सनावा में आपने बहुतों से मांस मदिरा छुड़ायी। आप मूर्तिपूजा के विरुद्ध भी जोरदार विचार प्रकट करते थे। सनावा से आप स्टेशन मास्टर बनकर तबदील हुये।

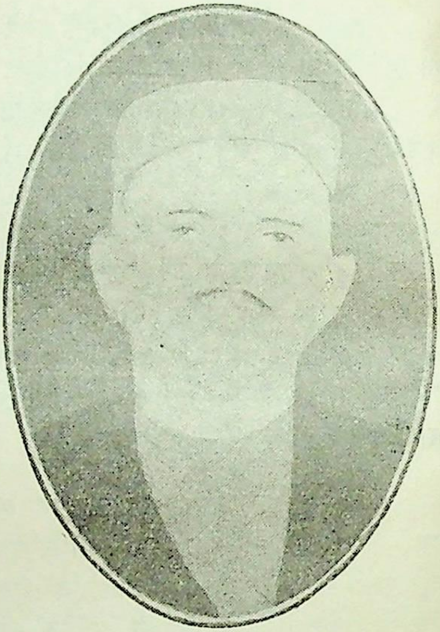
बदलते हुये आप फरीदकोट स्टेशन १९०३ में आये। रियासत में जैनियों का प्राबल्य था। इनका धर्म प्रचार-शान्तिमय और निर्दोष धर्मप्रचार, उनके हृदय में चुभने लगा। भावड़ा जाति के जैनियों ने इनके वध का षड्यन्त्र किया। रियासतके अधिकारी भी इस में सम्मिलित हो गये। गोपीराम भी, जिस की श्री प० तुलसीराम ने स्टेशन पर जनाना डिब्बे के सामने शरारत करने के कारण भर्त्सना की थी—इस षड्यन्त्र में शामिल हो गया। रात को आर्य समाज फरीदकोट के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में पण्डित तुलसीराम जी सितार बजाते हुये नगर में प्रचार कर रहे थे। शनिवार का दिन था। एक जगह अंधेरे में इनसे किसीने पूछा कौन हो। इन्होंने उत्तर दिया-तुलसीराम। उसने लालमिर्ची मिली रेत आंखों में झोंक दी। जब यह पीड़ा से बैठ गये वह इन्हें छुरा घोंप कर भाग गया।

बड़ी मुश्किल से ये स्टेशन पर पहुँचे। वहां से इन्हें फिरोजपुर लाया गया। मालूम होता है आततायियों ने डाक्टरों की जेबें पहले ही गरम करदी थीं लाजवन्ती बेचारी रास्तों से अनजान भटकती रही। उसे पता नहीं कहां जाए। जब ये हस्पताल पहुँचे इनका उचित उपचार नहीं हुआ। महाधन के अन्तिम शब्द थे—बिना अपराध के मार दिया। अच्छा, अच्छा, धर्म के मार्ग पर मैंने प्राण दिया।

बलिदान के समय इन की आयु ३२ वर्ष की थी। इनका वध उस सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने किया जिनके लिए अहिंसा सर्वस्व है। जिन का धर्म-ग्रन्थ "अहिंसा परमो धर्म" की दुन्दुभि बजाता हुआ सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा से बचने का आदेश देता है। जो भगवान् महावीर को अपना आचार्य मानते हैं। पण्डित तुलसीराम का इन जैनियों से कोई द्वेष नहीं था। वे सरल, साधु प्रकृति के थे। परन्तु उनका सत्य प्रचार इनके कानों में पीड़ा उत्पन्न करता था। इन लोगों ने उनका प्राणान्त करके अपनी इस पीड़ा को दूर किया। परन्तु क्या सचमुच उनकी पीड़ा दूर होगई ?

वीर रामचन्द्र

मेघजाति के उद्धार में अपना प्राण गवांकर रामचन्द्रने अपना नाम अमर कर लिया है। रियासत जम्मू जिला कठुआ, तहसील हीरानगर में ला० खोजूशाह महाजन खजानची के घर में १९ आषाढ़ सम्वत् १९५३ के दिन इनका शुभ जन्म हुआ इनके ८ छोटे भाई और १ बहन हैं। आप सब से बड़े थे। आपने मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की थी। अपनी श्रेणी में सदा प्रथम रहते थे। रियासत के दफ्तरों की कार्यवाही डोगरे भाषा की जगह उर्दू में हो जाने से खजानची का काम पिता की जगह पुत्र को मिला।



रामचन्द्र की प्रवृत्ति बचपन से धार्मिकथी। आर्यसमाज की सत्सङ्गतिने उसपर खासा रङ्ग चढ़ा दिया था। खजानची बनने पर उन की बदली बसोहली हो गई। वहां दो वर्ष आर्यसमाज की बड़ी सेवा की। पुनः कठुआ बदल कर चले गये। यहां आर्यसमाज का प्रचार करना मौत के मुख में पड़ना था। परन्तु उन्होंने निर्भयता से समाज का काम किया और अछूत जातियों की शुद्धि भी की। इससे विरोध का तूफान मच गया। इस कारण उन्हें १९१८ में साम्बना में तब्दील कर दिया गया।

१९२२ में साम्बा से अखनूर बदली हो गई। यहां के लोग छूत-छात के बड़े पक्षपाती थे। मेघजाति से बड़ी घृणा करते थे। रामचन्द्रजी ने उनके उद्धार और उन्नति के लिए एक धनी सज्जन का मकान लेकर मेघ बालकों के लिए पाठशाला खोल दी। यह पाठशाला ही उन की महाधनता की नींव थी। तहसील का काम करने के बाद सारा समय मेघों में प्रचार करने में लगाते थे। आधी आधी

रात तक पहाड़ी इलाकों में घूमना, उन्हें पढ़ाना, उनके दुःख दर्द में सम्मिलित होना, बीमारों को दवा देना यह उनका नित्य का काम था।

जन्माभिमानीजन मेघ बालकों का पाठशाला में पढ़ना बर्दाश्त न कर सके। उन्होंने अफसरों को शिकायतें भेजीं। मुसलमानों को उकसाया। व्याख्यानों में विरोध किया। एक बार कुछ लोग रामचन्द्रजी के मकान पर लाठी लेकर चढ़ आये परन्तु पुलिस के पहुँच जाने से दंगा न कर सके। अन्त में १९२२ की जुलाई में हिन्दु बिरादरी ने आर्यसमाजियों का बाइकाट कर दिया। भङ्गियों तक ने काम छोड़ दिया। लगातार २४ दिन के बाइकाट के बाद श्री रामचन्द्र जी की अनुपस्थिति में आर्यों ने अफसरों के दबाव पर यह समझौता कर लिया कि हिन्दु मुसलमानों की इस शिकायत को ध्यान में रखते हुए कि मेघ बच्चों के नगर में पढ़ने से उन्हें भ्रष्ट होने का डर है, इस लिए बस्ती से दूर २ मील पर पाठशाला खोली जायेगी। जब खजानची जी (रामचन्द्र जी को लोग इसी नाम से कहते थे) अखनूर वापिस आये और यह समाचार सुना तो मानने से इन्कार कर दिया। गवर्नर और वजीर वज़ारत से बहुत देर तक इस सम्बन्ध में पत्र व्यवहार होता रहा।

रामचन्द्र जी की निःस्वार्थ सेवा से मेघ लोग उन पर मोहित हो गए। सब की जिह्वा पर उन का नाम था। ये भी महाजन होते हुए प्रेम वश अपने को मेघ कहते थे। इन की प्रबल इच्छा थी कि पाठशाला का अपना मकान बनाया जावे इसके लिए उनके श्रद्धावान् भक्त मेघ पण्डित रुपा और माई भोली ने अपनी खेत की जमीन दे दी। इस पर सरकारी कारिन्दों ने और हिन्दू मुसलमानों ने उन पर बड़ा दबाव डाला परन्तु वे अपनी बात पर अटल रहे। इसके बाद खजानची जी ने इमारत के रुपये की अपील छापी। १९२२ में बड़े समारोह से वेदमन्दिर का प्रवेश संस्कार हुआ। सब रुकावटों को पार करके अन्त में पाठशाला खुल गई। इस से मेघों के हौसले बढ़ गये। एक सफलता दूसरी सफलता के लिए भूमि तैयार कर देती है। वीर रामचन्द्र को आस पास के ग्रामों से जमीन के वायदे और पाठशाला खोलने के निमन्त्रण मिलने लग गये। इतने में उन्हें जम्मू में तबदील कर दिया गया। इन्होंने अपने कार्य को पूरा करने के लिए चार मास की अवैतनिक छुट्टी ले ली।

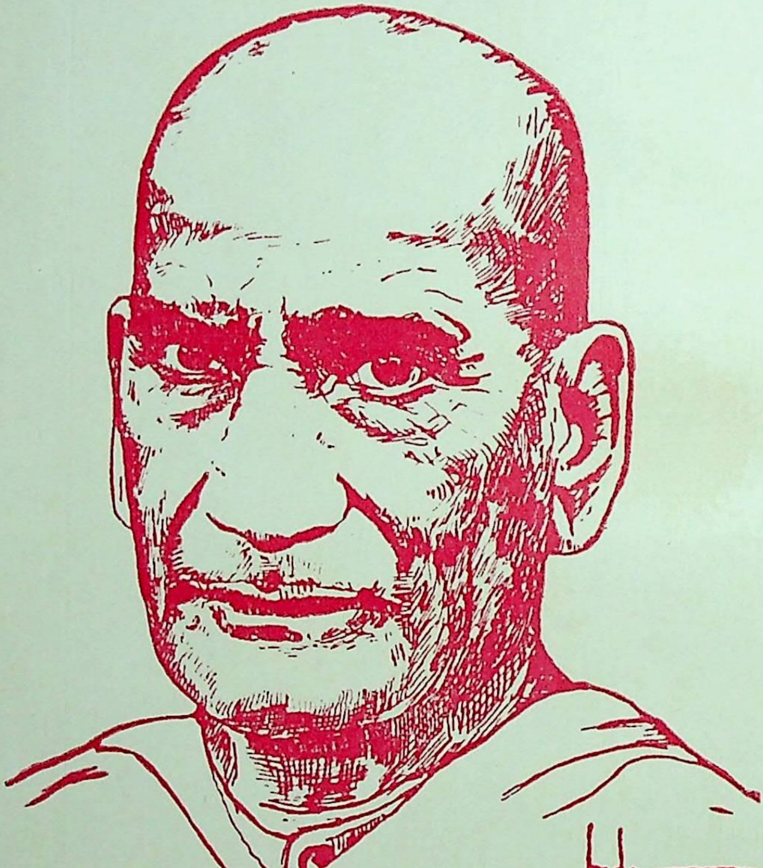
अखनूर से ४ मील दूर बटैहड़ा के मेघों ने भी इन्हें बुला भेजा। आप १७ पौष १९७९ वि० तदनुसार ३१ दिसम्बर १९२२ को कुछ आर्यों और विद्यार्थियों के साथ ओम् का झण्डा लिये और गीत गाते बटैहड़ा पहुंचे। विरोधी दल इन्हें

देख भड़क उठा। उसने इन का अपमान किया। गालियां दीं। झण्डा छीन लिया और हवन कुण्ड तोड़ दिया। इससे उस दिन का कार्यक्रम पूरा न हो सका। सारे इलाके में यह समाचार शीघ्र फैल गया।

रामचन्द्र इस घटना से निराश नहीं हुये। उन्होंने २ माघ (४ जनवरी १९२३) का दिन वहां पाठशाला खोलने का नियत कर दिया। लाहौर से उपदेशक भी बुला लिया। उधर मेघोद्धार से तप्त हृदय राजपूतों ने रामचन्द्र जी को इसका मूल कारण समझ कर उनके वध का षड्यन्त्र किया। २ माघ के दिन दङ्गल के बहाने उन्होंने लोगों को बुलाया। नियत दिन जम्मू से वीर रामचन्द्र; ला० दीनानाथ, ला० अनन्तराम; ओम्प्रकाश और श्रीसत्यार्थी-यह सज्जन बटैहड़ा चले वह दो मील था। रास्ते में आर्योपदेशक सावनमल जी पार्टी समेत मिले। उन्होंने सूचना दी कि स्थिति खतरनाक है। राजपूत भड़के हुए हैं—अतः वापिस चलना चाहिए। इस पर सब लौट चले।

राजपूतों को इन की वापिसी की सूचना मिलते ही एक भक्तू नामक व्यक्ति की कमान में कुछ मुसलमान गूजर और डेढ़ सौ राजपूतों ने सवार और पैदल दौड़ा कर पीछे से हल्ला बोल दिया। सब की जबान पर—खजांची को मारो! खजांची को मारो! का नारा था। श्री भक्तराम जी उन की रक्षा के लिए बढ़े तो उन पर भी अनगिनत लाठियां बरसीं। लाठी की वर्षा से शेष भी नहीं बचे। रामचन्द्र को अन्त में वे लोग लोहे के हथियारों से जख्मी करके बेहोश छोड़ कर भाग गये।

रामचन्द्र जी को उसी रात जम्मू के राजकीय-अस्पताल में पहुँचाया गया। वहां ६ दिन बेहोश रह कर २६ वर्ष की आयु में ८ माघ १९७९ (२० जनवरी १९२३) की रात के ११ बजे वह वीरात्मा स्वर्ग को प्रयाण कर गया।



अमर शहीद श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती

महात्मा मुन्शीराम जी

"महात्मा मुन्शीराम का जन्म १८५६ ई० में जालन्धर ज़िले के तलवन नाम के कस्बे में हुआ। ये एक क्षत्रिय कुल के थे, जिनमें भक्ति और निर्भीकता की परम्परा चली आती थी। इनके पिता लाला नानकचन्द ने १८५७ के विद्रोह में सरकार की सेवा की थी। उसके पारितोषिक रूप में उन्हें कोतवाल का पद प्राप्त हुआ था। उनके जीवन का अधिक समय पश्चिमोत्तर (संयुक्त) प्रान्त में बीता। वे कोतवाल के मिष से बनारस, मिर्जापुर, बलिया, बरेली, बदायूं, आदि स्थानों में ज्यादा रहे। मुन्शीराम उनकी सन्तान में सबसे छोटा था, इसलिए इससे घर में सबसे अधिक लाड़-चाव किया जाता था।

"मुन्शीराम की प्रारम्भिक शिक्षा पहले तो पंडितों और मास्टरों के द्वारा घर पर और फिर नियमित रूप से एक हिन्दी स्कूल में हुई। तुलसीकृत रामायण का पाठ लाला नानकचन्द बड़े चाव से किया करते थे। मुन्शीराम ने इस ग्रन्थ के कई स्थल कण्ठस्थ कर लिए। बड़े होकर भी ये तुलसी के दोहों और चौपाइयों का उच्चारण मजे ले-लेकर करते थे। ऐंट्रेन्स की शिक्षा के लिए बनारस के स्कूल में भर्ती हुए। १८६४ में परीक्षा दी। इनका पास होना निश्चित था परन्तु एक विषय का पत्र प्रकट हो गया। उसकी परीक्षा फिर हुई और ये उसमें सम्मिलित न हो सके। ये अपने पूर्व से नियत समय विभाग के अनुसार तलवन पहुँच गये। पहले वर्ष के अध्ययन के भरोसे ये दूसरे वर्ष पुस्तकों से उपेक्षा किये रहे। विद्यालय जाना ही बन्द कर दिया। उपन्यास तथा नाटक पढ़ने की चाट तभी से पड़ी। यह उपेक्षावृत्ति यहां तक बढ़ी कि इस वर्ष परीक्षा में बैठे ही नहीं। आखिर अगले वर्ष अर्थात् १८६६ में ऐंट्रेन्स पास की।

"जिन दिनों मुन्शीराम इन परीक्षाओं की तैयारी के लिए काशी में निवास करते थे, इनके पिता बलिया में थे। इस प्रकार ये स्वतन्त्र थे। कुश्ती, गदका तथा लाठी का अभ्यास इन्होंने इस स्वतन्त्रता की अवस्था में किया। शरीर बलिष्ठ था। निर्बल लड़कों को गुण्डों से बचाने में बल का खूब सदुपयोग हुआ। परन्तु उपन्यासों के अध्ययन और अनुचित संगति ने मदिरा-पान तथा हुक्के की लत भी पैदा कर दी। काशी के घाटों पर से दो देवियों को 'राक्षसों' के हाथों से बचा

लाए। आर्य साहित्य का अभ्यास होता तो इनके अपने कथनानुसार ये उनके राखी-बंधे भाई बन जाते।

"१८७८ में मुन्शीराम का विवाह हो गया। लाला देवराज की बहिन शिवदेवी उनकी धर्मपत्नी थी। यह देवी पुराने ढंग की सरल प्रकृति की सती-साध्वी गृहिणी थी। ऐसी गृहिणियां आजकल कम मिलती हैं। एक तो उस समय उनकी आयु छोटी थी। दूसरे, लाला मुन्शीराम पर उस समय पाश्चात्यता सवार थी। वे एक सरल आर्य गृहिणी की महत्ता को नहीं समझ सकते थे। सती का जौहर उन पर खुला तो उस समय जब वे मदिरा से उन्मत्त होकर घर लौटे, किसी सहायक की सहायता से छत पर पहुँचे और वहां जाते ही कै कर दी। पति-परायणा शिवदेवी ने इस वीभत्स अवस्था में भी उनसे घृणा के स्थान में प्रेम का व्यवहार किया। उनके वस्त्र बदलवाए उन्हें कुल्ला कराया और सुला कर आधी रात गये तक पतिदेव के सारे शरीर को दबाती रही। वे सो गए और वह जाग तथा भूखी रह कर उनकी सेवा में तत्पर रही। उन्होंने भूखा रहने का कारण पूछा तो सरल स्वभाव से बोली --पतिदेव से पूर्व भोजन कैसे करती ? उस रात दम्पति ने मिलकर उपवास किया। आर्य विवाह केवल कपड़ों की नहीं, हृदयों की गांठ होती है—इसका अनुभव मुन्शीराम को इस रात हुआ।

"शिवदेवी की पति-भक्ति का दूसरा उज्ज्वल प्रमाण उस दिन मिला, जब इसी सुरा-पान ही के व्यसन ने उन्हें सैंकड़ों रुपयों का ऋणी बना दिया। वे रुपये की चिन्ता में चूर बैठे थे कि अर्धांगिणी ने अपने हाथों के कड़े उतार कर दे दिये और कहा—इन्हें बेच कर ऋण चुका दो।

"शराब पीने वाले देवियों पर कैसे घोर अत्याचार करते हैं, इसका एक उदाहरण इनके हम-प्याला मित्र ही की बैठक में उस मित्र के अपने हाथों उपस्थित हो गया। यह देखते ही उन्हें सुरापान से घृणा हो गई। मूर्ति-पूजा से विमुख हो जाने का कारण भी एक ऐसी ही घटना हुई। पुजारी ने पैर छू रही एक महिला का हाथ पकड़ लिया और वह चिल्ला उठी—इस दृश्य ने मुन्शीराम तथा उनके साथी को मन्दिरों से उपरत कर दिया। इससे पूर्व काशी के मन्दिरों में रेवा की रानी की उपस्थिति के कारण अन्य दर्शनार्थियों पर शिवजी के दर्शन का द्वार निरुद्ध पाकर ये सोचने लगे थे कि क्या परमेश्वर भी राजा और रंक में भेद करता है ? इस प्रकार हिन्दू धर्म में इन्हें अनास्था हो गई, और एक कैथोलिक पादरी के साथ बप्तिस्मा का समय भी निश्चित कर लिया। परन्तु जब पादरी के घर गये

तो वहां भी ऐसा ही दुराचार होता दिखाई दिया। उनकी दृष्टि एकाएक उस घिनौने दृश्य पर जा पड़ी और इन्होंने निश्चय किया कि सब धर्म सदाचार के शत्रु हैं।

"इधर बरेली में अपने पिता जी के साथ ऋषि दयानन्द के व्याख्यानों में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। ऋषि काशी पधारे थे तो इनकी माता ने इस भ्रम से कि एक जादूगर आया है, जो हिन्दुओं का धर्म हर लेता है, इन्हें तथा इनके भाई को घर पर रोके रखा था। पर अब तो स्वयं पिता ही उस जादूगर की माया में फंस से गए थे। ऋषि के एक दिन के शास्त्रार्थ में ला० मुन्शीराम उपस्थित थे। ऋषि के स्थान पर जाकर उनका शंका-समाधान सुनने का शुभ अवसर भी इन्हें उपलब्ध हो गया। ये सब घटनाएं चुपके-चुपके किसी विचित्र भविष्य की तैयारी करा रही थीं। मुन्शीराम रिंद रह कर भी महात्मा बनने के परोक्ष संस्कार उपलब्ध कर रहा था। इन संस्कारों का परिपाक समय चाहता था जो प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने आप प्राप्त होता जा रहा था।

"एफ० ए० के पहले वर्ष की परीक्षा तो मुन्शीराम ने पास कर ही ली परन्तु दूसरे वर्ष की परीक्षा एक बार बनारस से और दूसरी बार इलाहाबाद से दी और दोनों बार असफल हुए। दूसरी बार इन्होंने तैयारी भी अच्छी की थी परन्तु रोगी होने के कारण एक विषय में ८ अंकों की कमी रही, इसलिए ये अनुत्तीर्ण रहे।

"पुत्र को इस प्रकार उच्च शिक्षा पाने में असमर्थ देखकर इनके पिता ने इन्हें बरेली का स्थानापन्न नायब तहसीलदार बनवा दिया। एक मास इन्होंने तहसीलदारी का काम भी किया परन्तु सेना छावनी से इनके आदमियों को रसद की कीमत न मिली। इस पर इन्होंने अपने आदमियों को कर्नल के देखते-देखते लौटा लिया। कर्नल को साफ कह दिया कि मूल्य के बिना रसद नहीं मिलेगी। डिप्टी कलक्टर ने क्षमा मांगने को कहा परन्तु ये नहीं माने और पीछे चाहे इन्हें निर्दोष निश्चित कर आरोप हटा लिया तो भी इनका जी इस अपमान की चाकरी से खट्टा हो गया और अब ये वकालत की परीक्षा के लिए तैयार होने लगे।

"१८८३ में इन्होंने मुख्तारी की परीक्षा पास की और मुकदमे लेने आरम्भ कर दिए। इस परीक्षा में एक वर्ष में ५ उपस्थितियों की कमी के कारण और दूसरे वर्ष तैयारी पूरी न होने के कारण ये रह गए। १८८६ में वकालत की पहली परीक्षा दी। इसमें दो अंकों की कमी के कारण अनुत्तीर्ण ही रहते परन्तु यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार लापैंएट महाशय ने घूस लेकर कई विद्यार्थियों को पास कर दिया। उस

समय पंजाब यूनिवर्सिटी की विचित्र परिस्थिति थी। विशेष कर परीक्षा सम्बन्धी अराजकता उस समय बहुत थी इस सम्बन्ध में लार्पैंएट साहब बहुत प्रसिद्ध थे। लार्पैंएटी ग्रेजुएटों के सम्बन्ध में कई गाथाएं प्रसिद्ध हैं। परन्तु हमारा उनसे क्या मतलब। मुन्शीराम ने उन्हें अखबारों द्वारा सारी पोल खोल देने की धमकी दी। लार्पैंएट ने डर के मारे इन्हें पास कर दिया। दूसरी परीक्षा दिसम्बर १८८६ में थी। उसके परिणाम में गड़बड़ रही। सैनेट ने केवल एक विद्यार्थी पास किया। आखिर जनवरी १८८८ में दूसरी बार इस परीक्षा में बैठकर पास हो गए। परीक्षाओं के इन अनुभवों ने पिछले संस्कारों को और भी दृढ़ कर दिया। शिक्षा का सच्चा मानदण्ड परीक्षा नहीं है। इसकी वर्तमान पद्धति में न आकस्मिक आपत्तियों के ही प्रतिकार का कोई स्थान है न विद्यार्थियों को विविध योग्यताओं के स्वतन्त्र विकास के लिए ही कोई अवसर है। महात्मा मुन्शीराम की इस सम्मति का परिणाम गुरुकुल की वर्तमान परीक्षा प्रणाली है। महात्मा मुन्शीराम के व्यक्तित्व के निर्माण में यूनिवर्सिटी की शिक्षा तथा परीक्षाएं असफल रहीं। इनका महान् जीवन कुछ और शक्तियों की कृति था। ये स्वभावतः उन्हीं को अधिक महत्व देते थे।

"मुख्तारी की परीक्षा पास कर इन्होंने वकालत का काम आरम्भ कर ही दिया था। वकालत की शिक्षा के लिए लाहौर जाना होता था। वहां से आर्यसमाज तथा ब्राह्मसमाज दोनों के अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे। पुनर्जन्म के विषय पर ये ऋषि का शास्त्रार्थ देख चुके थे। ब्राह्मसमाज इस सिद्धान्त के विरुद्ध था। इस पर उन्होंने दोनों पक्षों के साहित्य का अनुशीलन कर निश्चय किया कि आर्यसमाज का मत ठीक है। सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन इसी निमित्त से किया। बस फिर क्या? ये झट आर्यसमाज के सदस्य बन गए। ला० साईं दास अपने पक्ष को इस जीत पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने भविष्यवाणी की कि आज एक नई शक्ति का प्रवेश आर्यसमाज में हुआ है। देखें, इसका परिणाम अच्छा होता है या बुरा? ला० देवराज ने जालन्धर समाज का प्रधानपद इनके लिए रिक्त कर दिया और स्वयं मन्त्री गए।

"मुन्शीराम जी का मांसाहार का त्याग भी सत्यार्थप्रकाश के अध्ययन का फल था। आर्यसमाज की सभासदी ने मुन्शीराम के अध्ययन को एक निश्चित दिशा दे दी। अब ये अधिक समय आर्यसाहित्य के स्वाध्याय में लगे रहने लगे। ऋषि-कृत ग्रन्थों का पाठ कर वेद-वेदांग के स्वाध्याय में प्रवृत्ति हुई। जालन्धर समाज में इन्होंने धर्मघट तथा रद्दी-फण्ड की प्रथा जारी कर दी और शहर की गलियों में दुतारा लेकर संकीर्तन द्वारा धर्म का प्रचार करने लगे। सनातनी

पंडितों के मुकाबले में जब लाहौर से कोई पंडित न आया तो ज़बानी व्याख्यानों तथा शास्त्रार्थों का काम मुन्शीराम ही को करना पड़ा।

"इधर वकालत चल रही थी और उसमें यथासंभव सत्यपरायणता का प्रयत्न किया जा रहा था। इससे रुपये की दृष्टि से हानि होती थी। इधर प्रचार-कार्य की धुन इन्हें वादी-प्रतिवादी का नहीं आर्यसमाज का वकील बनाती जा रही थी। एक मुकदमा इन्हें मिला ही इसलिए कि आर्यसमाज में दिए गए इनके व्याख्यान का प्रभाव एक वादी पर बहुत अच्छा पड़ा। उसने पुराने अनुभवी वकीलों को छोड़ कर इन्हीं को पसन्द किया और इन्होंने उसे विजय दिला दी। पर ये लाभ अपवाद रूप थे। साधारणतया वकालत और प्रचार इन दोनों कार्यों का एक साथ चलना कठिन था।

"धार्मिक कट्टरता ने इन्हें घोर पारिवारिक विरोध का ही सामना कराया। पिता जी पहले तो रुष्ट हुए परन्तु पीछे उनके अपने विचार ही सहसा परिवर्तित हो गए। ऋषि की पुरानी माया का जादू प्रेम के प्रभाव से ताज़ा हो गया। रुग्णावस्था में उनकी सेवा कर इन्होंने अपना प्रभाव बैठा दिया। पैतृक संपत्ति से इनकी उपेक्षा और फिर यह प्रश्न कि क्या आप अपनी संतान से मक्कारी करायेंगे ? मुन्शीराम के ये दो शस्त्र अमोघ सिद्ध हुए। इन्हीं दिनों पं० गुरुदत्त से साक्षात् परिचय हुआ। यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। यहां तक कि मुन्शीराम जी पण्डित जी के अन्तरंग अनुरक्तों में हो गए। आर्यसमाज में दोनों सदाचार की प्रधानता चाहते थे। पहले तो पंडित जी को इन पर सन्देह था कि ये ब्राह्मसमाज के प्रभाव में हैं परन्तु साक्षात् बातचीत से यह भ्रम दूर हो गया। किसी को क्या पता था कि गुरुदत्त की प्रवृत्तियों को क्रियात्मक रूप देने का भार आगे आकर जालन्धर की इस 'नई शक्ति" पर ही पड़ेगा। ला० साईं दास की भविष्यवाणी गुरुदत्त की भावना की स्थिरता के सपनों से मानों सच्ची सिद्ध हो रही थी।

१८८६ में स्वामी रामानन्द और स्वामी पूर्णानन्द जालन्धर आए। स्वामी रामानन्द ने उपदेशक श्रेणी खोलने का विचार प्रकट किया। मुन्शीराम सहमत हो गए। नियमित श्रेणी तो नहीं खुली परन्तु ये स्वयं जिज्ञासुओं को शिक्षा देने लग गए। स्वामी पूर्णानन्द की दर्शनों की शिक्षा का प्रबन्ध कपूरथले के एक पंडित जी के पास हो गया। स्वामी जी (पश्चात् पंडित जी) को साथ लेकर ला० मुन्शीराम स्थान-स्थान पर आर्यसमाज का प्रचार करने लगे। लाला जी की प्रधानता में एक

उप-प्रतिनिधि सभा की भी स्थापना हो गई। इस सभा का काम दोआब में प्रचार करना था।

"जालन्धर के प्रत्येक कार्य में मुन्शीराम अग्रसर रहते थे। कन्यापाठशाला का प्रबन्ध, कन्या अनाथालय का प्रबन्ध, रहतियों की शुद्धि, नगर प्रचार, जिज्ञासुओं को शिक्षादान, जालन्धर से बाहर जा-जा कर उपदेश करना ये सब कार्य ला० मुन्शीराम के भावी चौमुखे जीवन की मानों भूमिका रूप थे।

"१ वैशाख, १९४६ (सन् १८८७) को 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र निकलना आरम्भ हुआ। ला० मुन्शीराम जी के हाथ में यह मानों कृष्ण का सुदर्शनचक्र आ गया था। इस के प्रभावों ने समाज को कई ऊँच-नीच दिखाए। पहले यह आठ पृष्ठ का था फिर १६ का और फिर २० पृष्ठ का हो गया। पं० लेखराम की स्मृति में इसमें चार पृष्ठ और बढ़ाए गए। इस परिशिष्ट का नाम "आर्य मुसाफिर" रक्खा गया। १ मार्च १९०७ को प्रचारक को उर्दू से हिन्दी कर दिया गया। उर्दू अक्षरों में भी प्रचारक की भाषा धीरे-धीरे हिन्दी होती गई थी। ला० मुन्शीराम के प्रभाव को बढ़ाने तथा फैलाने में 'प्रचारक' ने सब से प्रबल साधन का काम किया। उसने संपूर्ण समाज में एक 'प्रचारक परिवार' स्थापित कर दिया जिसमें केन्द्रीय स्थान ला० मुन्शीराम का था। कन्यामहाविद्यालय के लिए प्रचारक द्वारा प्रबल आन्दोलन हुआ और जब प्रतिनिधि सभा की बागडोर ही लाला जी के हाथ में आ गई तब तो प्रचारक एक प्रकार से सभा ही का पत्र बन गया। सभा की नीति का निर्धारण तथा प्रचार इसी के द्वारा होता था।

"३१ अगस्त १८७१ को लाला मुन्शीराम की धर्मपत्नी श्रीमती शिवदेवी का देहान्त हो गया। देहान्त का संपूर्ण दृश्य उस पति-परायणा आर्य महिला के पूर्व चरित्र के सर्वथा अनुरूप था। ला० मुन्शीराम उस दिन से अपनी संतान के तो एक साथ माता-पिता हो ही गए। इसके पश्चात् का उनका संपूर्ण जीवन इस मातृत्व के विस्तार की साधना सा प्रतीत होता है। लाला जी की आयु इस समय ३५ वर्ष की थी। पुनर्विवाह के कई प्रस्ताव आए, पर सब व्यर्थ। इनके हृदय में जो प्रेम पहले अर्धांगिनी के लिए था, वह अब आर्यजगत् के लिए हो गया। महात्मा मुन्शीराम द्वारा किए गए ब्रह्मचर्य के प्रचार में सती शिवदेवी का बड़ा भाग है। सती की समर्पित मृत्यु ने मुन्शीराम को केवल ब्रह्मचारी ही नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य की मर्यादा का पुनरुद्धारक बना दिया।

"पत्नी ने अपनी आहुति पति के पवित्र चरणों में दे दी और पति ने झट अपने आप को धर्म की आग में स्वाहा कर दिया। यह आहुति पति की थी या पत्नी की? १८९२ से १८९५ तक ये निरन्तर प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित होते रहे। इन्हीं की प्रधानता में वेद-प्रचार निधि की स्थापना हुई। वकालत के काम से जब भी इन्हें छुट्टी होती, ये प्रचार के कार्य में लग जाते। इस निमित्त से की गई यात्रा को ये धर्म-यात्रा कहते थे। ग्रीष्मावकाश तथा मुहर्रम की छुट्टियां इस धर्म-यात्राओं के समर्पण होतीं।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना

"गुरुकुल के लिए पहले-पहल आंदोलन सन् १८९७ में आरम्भ हुआ। उन दिनों महात्मा मुन्शीराम जालंधर से 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र प्रकाशित करते थे। सद्धर्म-प्रचारक में इसके लिए प्रबल आंदोलन किया गया और 'आर्य पत्रिका' आदि अन्य सामाजिक पत्रों ने इसका पोषण किया। नवंबर १८९८ के आर्य प्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव किया गया। यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

"गुरुकुल को खोलने का प्रस्ताव तो स्वीकृत हो गया, पर धन के बिना गुरुकुल खुलना सम्भव कैसे था? धन एकत्रित करने का कार्य महात्मा मुन्शीराम जी ने अपने ऊपर लिया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक ३० हजार रुपया एकत्रित नहीं कर लेंगे, अपने घर में पैर नहीं रखेंगे। आजकल ३० हजार रुपया किसी सार्वजनिक कार्य के लिये एकत्रित करना कठिन नहीं है। पर अब से ५८ वर्ष पूर्व जब कि किसी सार्वजनिक कार्य के लिए दान देने का अभ्यास जनता को नहीं था, ३० हजार रुपया इकट्ठा करना एक असाधारण बात थी। महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल के लिए धन एकत्रित करने निकले। आठ महीने लगातार घूमने के बाद ३० हजार रुपये इकट्ठे हुए। महात्मा मुन्शीराम जी की यह असाधारण सफलता थी, जो उनके अटल विश्वास और हार्दिक धर्म-प्रेम की अद्भुत विजय थी। इस सफलता के अभिनन्दनस्वरूप लाहौर में उनका शानदार जलूस निकला, सर्वत्र फूलों के हारों तथा उत्साह-पूर्ण जयकारों के साथ उनका स्वागत हुआ।

महात्मा मुंशीराम जी को गुरुकुल की स्थापना के लिए ३० हजार रुपये एकत्रित करने में लगभग ९ मास लगे। आपने यह धर्म-यात्रा २६ अगस्त सन्

१८९८ के दिन आरम्भ की। उस दिन आप जालन्धर में अपने मकान में न ठहर कर उसके सामने सड़क के दूसरी पार बने हुए आर्यसमाज मन्दिर में ही ठहरे। इस दौरे के सिलसिले में आपने पंजाब के अतिरिक्त अन्य प्रांतों में भी व्याख्यान दिए और धन-संग्रह किया। आप जहां कहीं गये वहां आर्य जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया और यथाशक्ति धन दिया। लोगों के लिए गुरुकुल की बात बिलकुल नई थी, देश के कई भागों में दुभिक्ष पड़ा हुआ था और उस समय जनता में शिक्षा के लिए अधिक दान देने की प्रवृति भी उत्पन्न नहीं हुई थी, तो भी मध्यम श्रेणी की आर्य जनता से नौ मास के समय में ३० हजार रु० की राशि एकत्र हो गई, इसे बहुत महत्वपूर्ण समझा गया। इसी भावना से प्रेरित हो कर आर्य जनता ने लाला मुन्शीराम जी को महात्मा पद से विभूषित किया। उस समय आप वकालत को तिलांजलि दे चुके थे और प्रैस और अखबार का काम भी कर्मचारियों पर डाल चुके थे।

जब गुरुकुल खोलने के लिए आवश्यक धन-राशि इकट्ठी हो गई तब यह प्रश्न उठा कि गुरुकुल कहां खोला जाय? इस विषय में पंजाब के आर्यजनों में भी कई मत थे। कुछ आर्य नेता जिनमें ला० रलाराम तथा राय ठाकुरदत्त धवन मुख्य थे, यह चाहते थे कि गुरुकुल कहीं लाहौर अथवा अमृतसर के पास ही खोला जाय। श्री हरगोविन्दपुर के आर्य पुरुषों ने यह प्रस्ताव किया कि यदि वहां गुरुकुल खोला जाय तो वे लोग आवश्यक भूमि दे देंगे। नूरमहल के ला० जगन्नाथ जी ने तो अपने कारखाने में ही गुरुकुल खोलने की बात पेश कर दी थी। परन्तु महात्मा जी का गुरुकुल के सम्बन्ध में पहले से यह विचार था कि वह किसी नदी के तट पर एकान्त स्थान में स्थापित हो। वे अपनी भावना का आधार निम्नलिखित वेद-मंत्र को बतलाया करते थे :—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रोऽजायत॥ —यजुर्वेद

मनुष्य पहाड़ों की उपत्यकाओं और नदियों के संगमों पर गुरुओं से बुद्धि प्राप्त करके विद्वान् बनता है। महात्मा जी का संकल्प था कि गुरुकुल ऐसे ही किसी स्थान पर बनाया जाय। शुभ संकल्पों की पूर्ति में परमात्मा सहायक होते हैं। इसे ईश्वरीय प्रेरणा ही कहना चाहिये कि जिला बिजनौर के नजीबाबाद नगर के निवासी मुन्शी अमनसिंह जी के मन में यह प्रेरणा हुई कि वे गंगातट पर बसे हुए अपने कांगड़ी ग्राम को दान कर दें। बिजनौर जिले के जिन आर्य पुरुषों ने महात्मा

जी की सहायता की उन में से नहटौर के चौ० चुन्नीसिंह जी, जि० सहारनपुर के बाबू मिट्ठनलाल खन्ना, राजपुर नवादे के चौ० फतेहसिंह जी और बिजनौर के चौ० शेरसिंह जी प्रमुख थे।

मुन्शी जी ने महात्मा जी को पत्र लिखकर अपने संकल्प की सूचना दी। प्यासे को मानो पानी मिल गया। महात्मा जी अभी चन्दे का दौरा कर ही रहे थे कि उन्हें मुन्शी जी का पत्र मिला। वे दौरे को कुछ दिनों के लिए स्थगित करके हरिद्वार गये और गंगा के उस पार जा कर कांगड़ी की भूमि को देखा। वह स्थान उन्हें गुरुकुल के लिए आदर्श प्रतीत हुआ। कांगड़ी गांव हिमालय की शिवालक-धारा के नीचे बसा हुआ है उस की भूमि एक ओर पर्वत को छूती है ता दूसरी ओर गंगा की नीलधारा का स्पर्श करती है। आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्थान की स्वीकृति हो जाने पर गांव से दूर गंगा के तट पर १६०१ में गुरुकुल के छप्परों का निर्माण आरम्भ हो गया। यों गुरुकुल की स्थापना गुजरानवाला में १६ मई, १६०० ई० को ही हो गई थी। वहां २० बालक गुरुकुल में प्रविष्ट हो चुके थे। इन बीस में ही महात्मा जी के दोनों पुत्र भी थे।

१६०२ के फरवरी मास में गंगा तट के घने जंगल को साफ करके कुछ छप्पर तैयार हो गये थे। फलतः ४ मार्च १६०२ के दिन महात्मा जी गुजरान-वाला जाकर गुरुकुल में विद्यमान ब्रह्मचारियों को कांगड़ी ले गये और उन थोड़े से फूस के छप्परों और २४ ब्रह्मचारियों के साथ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का सूत्रपात्र हुआ।

बलिदान !

देश की साम्प्रदायिक परिस्थिति में अनेक कारणों से असाधारण खिंचाव हो रहा था। जेल से छूट कर जुहू में विश्राम करते हुए महात्मा गांधी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में एक लेख लिखा था और उसमें सत्यार्थप्रकाश, आर्यसमाज और स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में जो अपरिपक्व विचार प्रकट किये थे, महात्मा जी ने उपद्रवों के कारणों का जोविश्लेषण किया था वह ठीक नहीं था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उस लेख के पश्चात् देश के मुसलमानों की साम्प्रदायिक उग्रता घटने की जगह और अधिक बढ़ गयी। अनेक स्थानों पर दंगे-फिसाद हुए, जिनमें हिन्दुओं को विशेष हानि हुई। ऐसा होते हुए भी महात्मा जी के लेख के कारण सर्वसामान्य कांग्रेसियों में आर्यसमाज और स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति जो दुर्भावना उत्पन्न हो गई थी, वह दूर न हुई। उससे लाभ उठाकर मुसलमान प्रचारकों और समाचार-पत्रों ने आर्यसमाज के विरुद्ध विषैले आन्दोलन को और भी तेज़ कर दिया। सबसे अधिक अनुचित बात यह थी कि बहुत से मुसलमान कांग्रेसी नेता उस विषैले आन्दोलन को प्रत्यक्ष रूप से उत्साहित करने लगे।

१९२४ की ईद के अवसर पर दिल्ली में एक भयंकर उपद्रव हो गया। दिल्ली के सदर बाज़ार में जो पहाड़ी धीरज के नाम से पुकारा जाता है, उसमें मुख्य रूप से जाट और अन्य सैनिक जातियों के लोगों की बस्ती है। यह परम्परा चली आती थी कि वहां से होकर कुरबानी की गाय न निकाली जाय। उस वर्ष कुछ मुसलमानों ने विशेष आवेदन-पत्र देकर सरकारी अधिकारियों से यह अनुमति प्राप्त कर ली कि कुरबानी की गाय पहाड़ी धीरज के मुख्य रास्ते से होकर गुजारी जाय। इस समाचार से पहाड़ी धीरज के हिन्दू निवासियों में बड़ी हलचल मच गई। चर्चा के दूर-दूर तक फैलने में देर न लगी और ईद के सप्ताह भर पहले ही आसपास के इलाकों के जाट और अन्य लड़ाकू जातियों के हिन्दू बहुत बड़ी मात्रा में दिल्ली में एकत्र होगये। ईद से पहले दिन तक उनका आगमन बराबर जारी रहा। सरकार यह सब कुछ देखती रही और चुप रही। ऐसा प्रतीत होता था कि वह उस बढ़ते हुए विप्लव का मजा लेना चाहती थी। बकरा-ईद से पहली रात में

दोनों कैम्पों में लड़ाई की तैयारियां होती रहीं। सरकार को उनका पता था। दोपहर के समय लगभग दस हजार मुसलमानों की भीड़ के साथ कुरबानी के लिए गौओं का जलूस निकाला गया। उस समय पुलिस बड़ी मात्रा में जलूस के साथ जा रही थी। जब जलूस पहाड़ी धीरज के मध्य में पहुंचा तो कुछ हिन्दू नौजवानों ने आगे बढ़कर गाय की रस्सी थाम ली। इस पर झगड़ा शुरू हो गया। हिन्दुओं के हाथों में लाठियां थीं और मुसलमानों के पास छुरे थे। सामने के संघर्ष में लाठियों की जीत हुई और दस हजार मुसलमान मुख्य बाजार से रेत की तरह बिखर गये।

मुख्य बाजार से बिखर कर वे लोग गली-कूचों में घुस गये। वहां जाकर उन्होंने जो उत्पात किया, उसे यहां लिखने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि उन्होंने स्त्री, पुरुष, बूढ़े और बच्चे किसी का लिहाज नहीं किया। घरों के अन्दर घुसकर जिसे पाया उसे छुरे का निशाना बनाया। दो-तीन घंटों तक उस इलाके में आततायियों का राज्य रहा। सरकार की पुलिस और मिलिटरी उस समय में कहां रही, कुछ पता नहीं, क्योंकि न वह बाजार में दंगे को रोक सकी और न गली-कूचों में छुरेबाजी को।

दंगे के बाद पुलिस ने बहुत से मुसलमानों को गिरफ्तार किया और उन पर मुकदमे चलाये। १६२४ के सितम्बर मास में महात्मा गांधी दिल्ली में आये और हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना के लिये उपवास की घोषणा की और उपवास आरम्भ कर दिया। दिल्ली के हिन्दुओं को आपने यह प्रेरणा की कि वे मारकाट के अपराध में गिरफ्तार मुसलमानों के विरुद्ध चलाये गये अभियोग को वापिस कराने का यत्न करें। महात्मा जी के उपवास के समाचार से देश में तहलका सा मच गया। समस्या को सुलझाने के लिये दिल्ली में एक विशाल एकता-सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन में स्वामी श्रद्धानन्द जी और लाला लाजपत राय जी आर्यसमाज के प्रतिनिधि माने गये। स्वामी जी ने आर्यसमाज पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देते हुए स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि अपने सिद्धान्तों के प्रचार का और मत-परिवर्तन का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है, तो भी यदि मुसलमान प्रचारक यह घोषणा कर दें कि वे तबलीग बन्द कर देंगे तो आर्यसमाज भी समय और परिस्थिति को देखते हुए उतनी देर के लिए शुद्धि के आन्दोलन को स्थगित करने पर विचार कर सकता है। इस पर कोई भी मुसलमान प्रतिनिधि या नेता यह कहने के लिये तैयार न हुआ कि इस समय या भविष्य में तबलीग बन्द कर दी जायेगी। परिणाम यह हुआ कि केवल लीपा-पोती और शुभ-कामनाओं के साथ-

एक राष्ट्रीय पंचायत बनाकर सम्मेलन समाप्त हो गया। सम्मेलन ने धार्मिक सिद्धान्तों को मानने, धार्मिक विचारों को प्रकट करने और धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करने, धर्म-स्थानों की पवित्रता का ध्यान रखने और गोवध और मस्जिद के आगे बाजा बजाने के सम्बन्ध में सबका एक समान अधिकार माना, पर साथ ही उनकी मर्यादाओं का भी निदर्शन किया। अखबारों को चेतावनी दी कि वे साम्प्रदायिक मामलों में समझबूझ कर लिखा करें और जनता से अनुरोध किया गया कि गान्धी जी के उपवास के अन्तिम सप्ताह में देश भर में प्रार्थना की जाय। ८ अक्टूबर का दिन जन-सभाओं द्वारा ईश्वर का धन्यवाद देने के लिए नियत किया गया। सम्मेलन की समाप्ति पर महात्मा जी ने अपना २१ दिन का उपवास विधिपूर्वक समाप्त कर दिया।

उस एकता-सम्मेलन से और कोई परिणाम निकला हो या नहीं, दिल्ली के साम्प्रदायिक विचार रखने वाले मुसलमानों में यह विचार फैल गया कि महात्मा जी और कांग्रेस के अन्य नेता आर्यसमाज को और शुद्धि को एकता के भंग करने के लिए जिम्मेदार समझते हैं। 'यंग इण्डिया' के लेख ने सत्यार्थप्रकाश, आर्य-समाज और स्वामी श्रद्धानन्द जी पर जो आरोप लगाये थे, दिल्ली के और बाहर के भी मुसलमानों ने यह समझा कि एकता-सम्मेलन ने इस पर मोहर लगा दी है।

१९२६ के जून के महीने में एक नया मामला हो गया। जिसने जलती आग में घी का काम दिया। उस मामले का विवरण हम पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार की लिखी हुई स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी से उद्धृत करते हैं :—

'शुद्धि-संगठन को लेकर आम जनता को स्वामी जी के विरुद्ध भड़काने वालों को कराची की असगरी बेगम नाम की मुसलमान महिला की शुद्धि और मुकदमे से अच्छा अवसर हाथ आया। साम्प्रदायिक समाचार-पत्रों में मुकदमे की अतिरंजित रिपोर्ट छपने लगी। आर्यसमाजियों पर औरतों और बच्चों को भगाने का दोष लगाने वालों को इस से एक ऐसा प्रमाण हाथ आ गया कि मुकदमें का फैसला होने तक उन्होंने भी अपने दिल का गुबार निकालने में कोई कसर बाकी न रखी। असगरी बेगम कराची से अपने दो बच्चों और भतीजे के साथ देहली आर्य समाज में आयी थी। वहां इन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार करने की इच्छा

प्रकट की। उस की इच्छा के अनुसार उसका संस्कार किया गया और शान्ति देवी नाम स्वीकार कर उस ने स्थानीय वनिताआश्रम में रहते हुए हिन्दी, संस्कृत आदि पढ़ना शुरू किया। कोई तीन मास बाद उसके पिता मौलवी ताज मुहम्मद खां उन को खोजते हुये दिल्ली आये। कुछ दिन बाद उस के पति अब्दुल हलीम भी आ गये। उन दोनों ने शान्ति देवी से मिलकर फिर से इस्लाम धर्म स्वीकार कर वापिस चलने के लिये आग्रह किया। पर उसने ऐसा करना स्वीकार न किया। इस प्रकार रुष्ट हो स्थानीय इस्लामी अंजुमनों से भड़काये जाकर उसके पति ने शान्ति देवी, स्वामी जी, डा० सुखदेव, प्रो० इन्द्र श्री देशबन्धु गुप्त, लाला गनपतराय और कराची आर्यसमाज के मन्त्री पर मुकदमा दायर कर दिया। शान्ति देवी पर बच्चों को भगाने और शेष पर उस की सहायता करने का आरोप लगाया था। मुकदमा खूब चला। जालन्धर तथा लाहौर से बैरिस्टर बुलाये गये। स्थानीय अंजुमनों ने उस को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। जून से दिसम्बर तक मुकदमा चलता रहा। अन्त में ४ दिसम्बर १६२६ को सब अभियुक्त बरी कर दिये गये। जाहिल मुसलमानों को स्वामी जी के प्रति इतना अधिक भड़का दिया गया था कि उनके इस प्रकार बेदाग छूट जाने पर सुलगी हुई आग और जोरों से भड़क उठी। स्वामी जी को खून करने की धमकियों के और भी गुमनाम पत्र आने लगे। हापुड़, मेरठ, देहली आदि में इस सम्बन्ध में कुछ पैम्फलेट भी निकाले गये। ख़्वाजा हसन निजामी ने अपने पत्र 'दरवेश' में भी इसी प्रकार के कुछ इशारे किये थे और कुछ नज़में भी शाया की थीं। स्वामी जी उन सबको अपने स्वभावनुसार उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे।"

अभियोग के दिनों में स्वामी जी के पास कई गुमनाम पत्र ऐसे आये, जिन में मारने की धमकी दी गई थी। न तो स्वामी जी ने वे पत्र कभी पुलिस के पास भेजकर अपनी रक्षा की प्रार्थना की और न ही अपने आदमियों को पहरे आदि का विशेष प्रबन्ध करने दिया। जब कभी स्वामी जी के निवास-स्थान पर स्वयंसेवकों का पहरा लगाया जाता था तब स्वामी जी अपनी आज्ञा से उन्हें हटा देते थे। धमकी से डरना स्वामी जी के स्वभाव में नहीं था। डराने का प्रयत्न उन्हें अपने निश्चय में और भी दृढ़ कर देता था।

उस वर्ष देश में कौंसिलों के चुनाव की धूम-धाम थी। पं० मदनमोहन-मालवीय और लाला लाजपतराय जी ने कांग्रेस से अलग एक नेशनलिस्ट पार्टी का संगठन किया था। कई हल्कों से नेशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार खड़े किये थे। बनारस के हल्के से कांग्रेस ने बाबू श्रीप्रकाश जी को अपना उम्मीदवार

ही चर्चा थी। वह दुर्घटना क्या थी, देहली पर कल्पनातीत भयंकर वज्रपात था। यह (२६ दिसम्बर सन् १६२३ गुरुवार) वह दिन था, जिस दिन सूर्य-भगवान ने दक्षिण दिशा की ओर से उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया था और कोई पांच हजार वर्ष पहले महाभारत के भीष्म पितामह ने शर-शय्या पर पड़े हुए स्वेच्छा से प्राणों का विसर्जन किया था और अब देहली के भीष्म पितामह, जनता के हृदय-सम्राट्, स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने भारत की प्राचीन आर्य संस्कृति के कुरुक्षेत्र में छाती पर गोली खाकर अपने प्राणों का विसर्जन किया था।

"डा० चिम्मनलाल, डा० अन्सारी और डा० अब्दुर्रहमान आदि ने परीक्षा की और शरीर के बिल्कुल ठंडा होने की सूचना देदी। रोगी देह तो पहले ही ठंडा हो चुका था, गरम दवाइयों की गरमी से उसको जबरन गरम रखकर, यमराज के साथ लड़ाई लड़ते हुए, प्रकृति की अवश्यम्भावी घटना को टालने की व्यर्थ कोशिश की जा रही थी। वह टल कैसे सकती थी ? पर उस कर्मशील जीवन को उस बुढ़ापे में भी अन्तिम दिन अन्तिम सांस बीमारी के बिस्तर पर ही सिसकते हुए नहीं लेनी थी। अपितु जीवन की अवश्यम्भावी उस अन्तिम घटना को जीवन से भी अधिक स्फूर्तिदायक बना जाना था और इस संसार से जाते-जाते भी कुछ करते हुए ही जाना था। मुँहमांगी मुराद की तरह आपको वीरगति प्राप्त हुई। उकसाये हुए मतान्ध बेचारे अब्दुल रशीद को क्या मालूम था कि जो कुछ वह करने आया था, उससे ठीक विपरीत ही होगा। वह नहीं जानता था कि वह अधम कृत्य द्वारा इस्लाम की चादर पर कभी न धुलने वाला एक काला दाग लगा जायगा और जिसको वह इस संसार से मिटाने आया था, उसको सदा के लिए अमर बना जायगा। निश्चय ही स्वामी जी को वह अमर पद प्राप्त हुआ, जिसकी खोज में दुनियां पत्थर, पहाड़, कन्दरा, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा और मथुरा, काशी, काबा आदि में भटकती फिरती है।

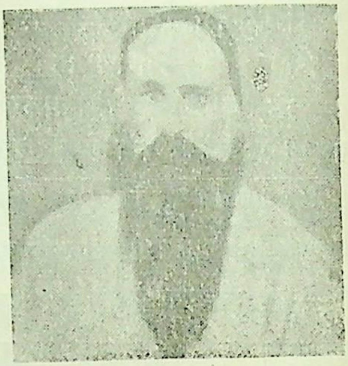
"गोली चलने के आध घंटा बाद पुलिस घटनास्थल पर पहुंची। उसके थोड़ी देर बाद सीनियर सुपरिन्टेंडेंट पुलिस मार्गन और शेख नजरुल हक आये। हत्यारे को सिपाहियों के सुपुर्द कर जांच शुरू की गई। कुछ दिन मुकदमा चलने के

बाद हत्यारे को फांसी की सजा हुई। प्रीवी कौंसिल तक मुकदमा लड़ा गया, पर वहां से भी फांसी की सजा बहाल रही। इस्लाम को नापाक करने वाले मुसलमानों ने तो हत्यारे को गाजी के पद से सुशोभित किया और प्रीवी कौंसिल में की गई अपील के रद्द हो जाने पर भी स्वामी जी के औरस पुत्र के नाते प्रो० इन्द्र जी ने उसको फांसी न देकर इस्लाम के हाथों में उसकी किसमत का फैसला छोड़ देने की सम्मति प्रगट की।

"स्वामी जी के शव का देहली में 'न भूतो, न भावि' सम्मान हुआ। सुदूर प्रदेशों से आकर लोग उसमें शामिल हुए। जिसके लिये भी देहली पहुंचना सम्भव था, वह सिर पर पैर रख आंखों के बल दौड़ा चला आया। हरिद्वार के गुरुकुल कांगड़ी के प्रायः सभी ब्रह्मचारी और कर्मचारी कुल-पिता के अन्तिम दर्शन करने देहली आ पहुँचे थे। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ भी उठकर देहली चला आया था। बलिदान के तीसरे दिन शनिवार को अर्थी का जो विराट् जलूस निकला, वह सम्राटों को भी रिझाने वाला था। जनसमूह का उस दिन देहली में समाना कठिन था। दो ढाई मील तक नरमुण्ड ही नरमुण्ड दिखाई पड़ते थे। अर्थी इतर-फुलेल और फूलों की वर्षा से इतनी भारी हो रही थी कि उसको सम्भालना कठिन हो रहा था। शहर के मुख्य-मुख्य भागों में घूमता हुआ जलूस सवेरे का चला हुआ दोपहर बाद जमुना के किनारे पहुँचा। अपने हृदय-सम्राट् के नश्वर शरीर को अग्निदेव की भेंट कर देहली के निवासी अपने घरों को ऐसे खाली हाथ लौटे जैसे उनका सर्वस्व ही लुट गया था, मानो अबोध बालक मां-बाप की असामयिक मृत्यु से बिल्कुल अनाथ हो गया था और जैसे लखपति बनने की आशा में बैठे हुए साहूकार का दिवाला ही पिट गया था।"

भक्त फूलसिंह जी

भक्त फूल सिंह जी का जन्म रोहतक मण्डलान्तर्गत्त ग्राम माहरा (जूआं) में सं० १९४२ विक्रमी (सन् १८८५) में हुआ। इनके पिताजी जाट कुल के साधारण जमींदार थे। आठ वर्ष की अवस्था में इनको पिताने समीपस्थ गांव जूआं में स्कूल में भेजा। प्राइमरी शिक्षा के बाद ग्राम महरौली के मिडिल स्कूल में प्रविष्ट करा दिए गये। इनमें बाल्यकाल से ही सेवा-भाव, निर्भयता, सरलता, मधुर-भाषिता, सदाचार, सुशीलता आदि गुण विद्यमान थे।



करनाल से पटवार की परीक्षा उत्तीर्ण करके पटवारी हो गए! इस समय वे लगभग बीस वर्ष के हो गये थे। प्रथम इनको ग्राम उरलाना (ज़िला करनाल) जो कि मुसलमान रांघड़ों का गांव है पटवारी बनाया गया। जन्म से हिन्दू होते हुए भी इनके मन में मनुष्य मात्र के प्रति-प्रेम-भाव था। एक बार अकाल के कारण उरलाना के मुसलमान जमींदारों से सरकारी मालगुज़ारी का रुपया नहीं पट सका। नम्बरदारों ने पटवारी जी के पांव पकड़ लिए। उन्होंने द्रवित होकर एक हिन्दू महाजन से ५०००) रु० अपने नाम से कर्ज़ लेकर उनका संकट दूर किया। महाजन ने इनको समझाया भी 'पटवारी जी! आप इनकी चाल में न आयें। ये मुसलमान बड़े धोखे बाज़ होते हैं। आप पछतावेंगे।" परन्तु करुणा से द्रवित इन्होंने उसके कहने की परवाह न की। सेवा-भाव की एक घटना भी उरलाना ग्राम की है—जब सन् १९०९ में प्लैग प्रलय की महामारी समस्त देश में फैली तब समस्त सरकारी कर्मचारी छुट्टियां लेकर अपने-अपने घरों को चले गए किन्तु ये वहीं पर डटे रहे और प्रातः काल के सात बजे से लेकर रात के एक दो बजे तक लगातार कठोर परिश्रम से बीमार लोगों की सेवा शुश्रुषा करते रहते थे। इनके हितैषियों ने चिट्ठी आदि द्वारा इनको छुट्टी लेकर घर जाने की सलाह दी और कहा "क्यों इन मुसलमानों में नाहक अपनी जान गंवाते हो"। किन्तु दुखियों को छोड़ कर जाने की इनके मन ने गवाही नहीं दी। अतिथि सत्कार में,

दूसरों को खाने-पिलाने में उन जैसा मिलना कठिन है। आरम्भ में जब वे पौराणिक विचारों के थे तब श्रद्धादि में प्रातः से सायंकाल तक ब्राह्मणों को जिमाने के लिए लगे ही रहते थे। आर्य समाजी होने पर भी जब कभी कोई महानुभाव इनके पास किसी काम से आता था तब कुछ न कुछ दूधादि खिलाना पिलाना अपना कर्त्तव्य समझते थे। अधिक महानुभाव होने पर पड़ौसियों तक के दूध का भी सफाया करवा दिया करते थे।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों व जीवन का नियम पूर्वक स्वाध्याय करते थे, तथा नित्य नियम से सन्ध्या हवन भी करते थे। सन् १६१६ में आर्य सिद्धान्तों की विशेष जानकारी के लिए इन्होंने विरजानन्द साधु आश्रम हरदुआगंज में स्वामी सर्वदानन्द जी के पास जाने का विचार किया और पटवार से दो मास की छुट्टी भी ले ली, किन्तु "मेरे मन कुछ और है विधाता के कुछ और" इस कहावत के अनुसार साधु आश्रम में जाने से एक दिन पूर्व पहली रात को ही ग्राम सम्मालखा के दो तीन प्रतिष्ठित व्यक्ति आये। उनको आधी रात को ही बुलाया तथा सम्मालखा ग्राम में हत्या खुलने की सरकारी आज्ञा सुनाई और कहा "कि—पटवारी जी हमसे कुछ भी करवा लो परन्तु वहां हत्या न खुलने दो"। भक्त जी ने उनको दिलासा दिया और अपना साधु आश्रम जाना स्थगित कर इसी कार्य में लग गए। अन्त में सामूहिक शक्ति प्रदर्शन द्वारा सरकार को हत्या बन्द करने पर बाध्य कर दिया। यह भक्त जी की गोभक्ति, कार्य कुशलता व परिश्रम शीलता का जीता जागता प्रमाण है। इसी प्रकार लगभग सन् १६३३७-३८ में लाहौर में पचास लाख रुपये से पंजाब गवर्नमेंट द्वारा खुलने वाले प्रसिद्ध हत्थे के बन्द करवाने में भी भक्त जी महाराज का विशेष हाथ था। छुट्टी समाप्त करके फिर पटवार करने लगे किन्तु अब इनका मन पटवार में लगता नहीं था। समाज सेवा की धुन सिर पर सवार हो चुकी थी। अन्त में हितैषियों के मना करने पर भी सन् १६१८ में पटवार से त्याग-पत्र दे दिया और अपना सारा समय आर्य समाज के प्रचार व प्रसार में लगाने लगे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की आज्ञानुसार आपने मुसलमान राजों व राजपूतों की शुद्धि के लिए कठोर परिश्रम किया। इस कार्य में कई स्थानों पर उपवास भी करना पड़ा। कतिपय स्थानों पर मुसलमानों द्वारा अपहृत हिन्दू देवियों को भी छुड़ाया। इन कारणों से इलाके के मुसलमान आप के शत्रु हो गए।

लोहारू रियासत का नवाब अपने यहां वैदिक धर्म के प्रचार में बाधा डालता था तथा वहां के आर्य बन्धुओं को तरह-तरह से पीड़ित करता था। भक्त

जी महाराज ने नवाब से तथा पंजाब के उच्च सरकारी अधिकारियों से मिलकर प्रचार की सब बाधायें दूर करवाइ तथा वहां के आर्य बन्धुओं को तन मन धन से सहायता पहुँचाई। ऐसा करते हुए वे नवाब की गुण्डा शाही के शिकार भी हुए और मृत्यु के मुख से बाल-बाल बचे।

हैदराबाद रियासत के आर्य सत्याग्रह में हरयाना प्रान्त ने जो भाग लिया वह भारत के सब प्रान्तों से बढ़कर था। उसका विशेष श्रेय श्री पूज्य भक्त जी महाराज की कार्य कुशलता व प्रभाव को ही समझना चाहिए। इसी लिए सत्याग्रह की समाप्ति पर महाशय कृष्ण ने विनोद में कहा था कि – "जब भक्त फूलसिंह जैसे फरिशते आर्य समाज में विद्यमान हैं तब हम को जेल में कौन बन्द रख सकता है?"

समस्त हरयाने में जिस दुखिया को कहीं शरण नहीं मिलती थी वह अन्त में भक्त जी महाराज की शरण में आता था और वे अपनी सारी शक्ति लगाकर उसके दुःख निवारण की चेष्टा करते थे। ऐसे ही दुःखी जनों में गांव मोठ (जिला हिसार) के चमार बन्धु भी थे जिन का कुंआ मुसलमान रांघड़ों ने बनता-बनता बन्द करवा दिया था। मोठ के हरिजन भाई सब जगह से निराश होकर अन्त में भक्त जी की शरण में आये और अपनी कष्ट गाथा सुनाई। भक्त जी महाराज ने आश्वासन दिया कि कुछ दिन ठहरो भगवान की कृपा से आप का सब मनोरथ पूरा हो जावेगा (उन दिनों में हैदराबाद का सत्याग्रह चल रहा था जो अपने अन्तिम चरण में पहुँच चुका था)

सत्याग्रह के सफल होते ही भक्त जी महाराज बिना किसी को कोई सूचना दिये एक व्यक्ति के साथ १ सितम्बर १६४० को गांव मोठ में पहुँच गए। तीन दिन तक ग्रामवासियों को समझाते रहे किन्तु मुसलमान न माने। अन्त में उन सब के सामने आमरण अनशन व्रत कर दिया "अर्थात् कुआं बनने पर ही अन्न ग्रहण करूँगा अन्यथा यहीं प्राण त्याग दूँगा।" इसका भी मुसलमानों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और भक्त जी महाराज को तीन-चार दिन के बाद वहां से उठाकर जंगल में ले जाकर अधमरा करके डाल आये। उस रात जो उन्हें यातनायें मुसलमानों द्वारा सहनी पड़ीं वे वर्णनातीत हैं। ईश्वर की कृपा से अन्त में २३ दिन के उपवास के बाद अपने कार्य में सफल हुए और इस व्रत के कारण समस्त पंजाब में हरिजनों के लिए पानी की समस्या हल हो गई। व्रत की समाप्ति पर श्री भक्त जी महाराज को महात्मा गांधी जी ने मिलने के लिए दिल्ली बुलाया और डेढ़ घण्टे तक वार्तालाप किया तथा उस वार्तालाप में अपना अनुयायी बनाने का पूर्ण

प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। महात्मा जी के कहने का मुख्य सार यही था— "आप आर्यसमाज के दायरे से निकल कर मेरे प्रोग्राम के अनुसार कार्य कीजिये। समय समय पर मैं भी आपको यथाशक्ति सहायता देता रहूंगा। इससे आप देश की अधिक सेवा कर सकेंगे"।

भक्त जी महाराज ने छल कपट रहित सरल और सीधी सादी भाषा में उत्तर दिया—महात्मा जी, मैं आप की सब आज्ञाओं को मानने के लिए तैयार हूं परन्तु आर्यसमाज को नहीं छोड़ सकता क्योंकि "ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज तो मेरे रोम-रोम में रम चुके हैं वे इस जन्म में तो निकाले से भी नहीं निकल सकते।" जिस महात्मा जी को लोग जादूगर कहते थे उनका जादू दयानन्द के शिष्य पर असफल रहा।

भक्त जी का दृढ़ विश्वास था कि 'संसार का भला भगवान दयानन्द के बताये हुये रास्ते पर चलने से ही हो सकता है "दुनिया में अगर सुख-शान्ति की वर्षा हो सकती है तो महर्षि दयानन्द के द्वारा सिखाये हुए सत्य मार्ग पर चलने पर ही हो सकती है।"

उनके सर्वतोमुखी कार्यों में स्त्री-जाति की उन्नति भी एक कार्य था। इसके लिए एक कन्या पाठशाला की स्थापना भी की जो जींद में कई वर्षों तक चलती रही परन्तु वहां वह स्थिर न हो सकी। अन्त में ग्राम खानपुर कलां (जिला रोहतक) में उसकी स्थिर नींव रखी जो अब बढ़ कर कन्या गुरुकुल खानपुर कलां के नाम से विख्यात है। इन सब कार्यों के करते हुए सी सन् १६४२ में श्रावण सुदि द्वितीया को रात के साढ़े नौ बजे चार मुसलमानों की गोली से वीरगति को प्राप्त हुए। इस प्रकार के त्यागी, कर्मनिष्ठ, तपोधन आर्य समाज में भगवान् फिर से पैदा कर!

महाशय राजपाल जी

श्री राजपाल जी का जन्म अमृतसर के एक साधारण परिवार में ५ असाढ़ संवत् १९४२ में हुआ था। आपके पिता अर्जीनवीस थे। राजपाल जी अभी बहुत छोटे थे कि उनके पिता बच्चों और उनकी माता को निराश्रय छोड़कर कहीं चले गये और फिर लौटकर न आये। राजपाल जी उस समय स्कूल में पढ़ते थे। कर्त्तव्यपरायण और परिश्रमी तो आप थे ही, उस अवस्था में भी घबराये नहीं और मिडिल पास करके उर्दू की किताब के काम में लग गये।



कुछ समय के पश्चात् आप एक हकीम के यहां लेखक का काम करने लगे। प्रारम्भ से ही आपकी प्रवृत्ति लिखने-पढ़ने की ओर थी और आर्यसमाज का प्रेम रग-रग में व्याप्त था। १९०६ में आप महात्मा मुन्शीराम जी द्वारा संपादित सद्धर्म प्रचारक (उर्दू) के कार्यालय में क्लर्क के काम पर नियुक्त हो गये। वहां महात्मा जी के संसर्ग से आप के स्वाभाविक गुणों का खुला विकास हुआ। उनके स्वभाव और जीवनचर्या के सम्बन्ध में 'आर्यसमाज के महाधन' के लेखक स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने लिखा है—आपका रसूख और मेल-जाल बहुत अच्छा था। आपने हंसमुख और मजाकिया तबियत पाई थी। सदा प्रसन्न बदन और पुलकित-शरीर रहा करते थे। उन दिनों आप बहुत सादा रहते थे और समय मिलने पर थोड़ा बहुत किताबत का काम भी करते थे। अपनी इस छोटी सी आयु में वे कुछ गुजारे के लिये अपने पास रखकर शेष छोटे भाई और माता के निर्वाह के लिये अमृतसर भेज देते थे। अपनी मासी जी की भी आप ही मदद करते थे।"

जब 'सद्धर्म-प्रचारक' उर्दू से हिन्दी में परिवर्तित होकर हरिद्वार चला गया तब राजपाल जी लाहौर चले गये और महाशय कृष्ण जी के उर्दू साप्ताहिक 'प्रकाश' के मैनेजर हो गये। यद्यपि आपको महाशय जी ने शुरू में केवल २०) मासिक पर पत्र का मैनेजर नियुक्त किया था परन्तु अपनी सचाई, मेहनत और सौम्यता के कारण थोड़े ही वर्षों में आप महाशय जी के छोटे भाई और 'प्रकाश'

के सर्वेसर्वा हो गये। मैनेजर तो थे ही, मुख्य रिपोर्टर भी थे और समय पड़ने पर संपादन का काम भी कर लेते थे। कई वर्षों तक पंजाब की आर्य जनता में 'प्रकाश' और राजपाल अभिन्न वस्तु समझे जाते थे।

प्रकाश के प्रबन्ध-कार्य के साथ-साथ राजपाल जी पुस्तक-प्रकाशन का काम भी करने लगे थे। धीरे-धीरे प्रकाशन ने एक पुस्तक भण्डार का रूप धारण कर लिया, जिसका नाम 'सरस्वती आश्रम' और 'आर्य पुस्तकालय' रखा गया। आप प्रायः धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित करते थे। आप परिश्रमी और मिलनसार तो थे ही, कुछ ही दिनों में आपका पुस्तकालय पंजाब भर में मशहूर हो गया। आप आर्य-समाज के विद्वानों से लिखाकर मौलिक पुस्तकें प्रकाशित करते थे और व्याख्यानों के संग्रह आदि भी छापते थे। महाशय राजपाल जी द्वारा 'रंगीला रसूल' नाम की पुस्तक के प्रकाशन और उसके परिणाम का वृत्तान्त हम स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के 'आर्यसमाज के महाधन' से उद्धृत करते हैं। स्वामी जी इसमें वर्णित घटनाओं में से कई के प्रत्यक्षदर्शी थे।

"—'उन्नीसवीं सदी का महर्षि' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें ऋषि दयानन्द के जीवन पर अनुचित आक्षेप किये गये थे। इसके पश्चात् मई १९२४ में महाशय राजपाल जी के सरस्वती पुस्तकालय की ओर से उक्त पुस्तक के जवाब में—'रंगीला रसूल' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। पहले 'रंगीला रसूल' पर गवर्नमेंट ने कोई रिपोर्ट नहीं ली थी, न उसे बुरा समझा था। किसी मुसलमान ने वह पुस्तक महात्मा गान्धी के पास भेज दी। उन्होंने सर्वप्रथम उसके विरुद्ध लिखा। इसके बाद मुसलमानों ने भी उसका विरोध करना आरम्भ किया और सभायें करके 'रंगीला रसूल' के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया। इस पर पंजाब सरकार ने आप (म० राजपाल) पर इस पुस्तक को छापने के अपराध में मुकदमा चलाया और पुस्तक जब्त कर दी। यह मुकदमा पंजाब के अदालती इतिहास में विशेष महत्व रखता है। मुकदमा लम्बा खिंचता गया और इनके हजारों रुपये इसमें लग गये परन्तु इन्होंने किसी भी सभा या समाज से एक पाई भी लेना स्वीकार न किया। मुकदमे की यह विशेषता थी कि जहां मुसलमानों की ओर से सैंकड़ों मुसलमान

और मौलवी इक्ट्ठे हो जाते थे वहां आर्यसमाज की ओर में अकेले राजपाल जी निर्भयता से डटे रहे। इन्हें जहां एक ओर मुकदमे की तैयारी में न दिन को चैन था न रात को आराम, वहां दूसरी ओर मुसलमान अखबारों और मौलवियों ने इनके विरुद्ध बड़े जोरों का प्रचार किया और कुफ्र का फतवा देकर कत्ल करने की धमकी दी। महाशय जी अभियोग में पहले तो कैद हुए परन्तु हाईकोर्ट से साफ बरी हो गये। कानून भी सत्य का गला नहीं दबा सका और मान लिया कि 'रंगीला रसूल' में दूध का दूध तथा पानी का पानी किया गया है।

"राजपाल जी एक शान्तिप्रिय पुरुष थे यदि वे चाहते तो उसके कई संस्करण निकाल लेते परन्तु ज्योंही उन्हें यह मालूम हुआ कि मुसलमान इस पुस्तक के प्रकाशन से रुष्ट हैं, उन्होंने दूसरा संस्करण निकालने का विचार छोड़ दिया और घोषणा कर दी कि वे मुसलमानों की भावनाओं का आदर करते हुए उक्त पुस्तक को दूसरी बार नहीं छपवायेंगे।

"मुसलमानों ने उनकी इस सहायता का क्या बदला चुकाया, यह भी देख लीजिये। २६ सितम्बर १९२७ के प्रातःकाल मैं (स्वतन्त्रानन्द) और श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ महाशय जी की दुकान पर खड़े बातचीत कर रहे थे। इतने में एक खुदाबख्श नाम का व्यक्ति आया और उसने झट महाशय जी पर प्रहार किया। उनके हाथ, बाहु तथा जंघा पर घाव लगे। उसको वहीं पकड़ कर पुलिस के हवाले कर दिया गया। महाशय जी को महीना भर मेयो अस्पताल में पड़ा रहना पड़ा।

"इसके पश्चात् फिर ८ अक्तूबर १९२७ को आक्रमण हुआ। महाशय जी की दूकान पर श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज किसी कार्यवश बैठे थे। अब्दुलअजीज ने उन्हीं को राजपाल समझकर पीछे से छुरी घोंप दी। वे अभी एक दो वर्ष के एकान्तवास से लौटे थे। स्वामी जी पर्याप्त समय हस्पताल में रहे। तब जाकर धीरे धीरे स्वस्थ हुए। आक्रमणकारी को सजा मिली।

"इसी बीच महाशय जी को धमकियां मिलती रहीं कि मुसलमान हो जाओ

अन्यथा कत्ल हो जाओगे। अन्त को ६ अप्रैल १९२९ जब उसी दूकान पर बैठे महाशय जी हिसाब मिला रहे थे तब इल्मुद्दीन नामक एक युवक आया। वह झट महाशय जी पर झपटा और तुरन्त छुरी के घाट उतार दिया।

"इल्मद्दीन पर मुकदमा चला और इसे मियांवली जेल में फांसी मिली उसकी लाश खोद कर लाहौर लायी गयी और उसका शानदार जलूस निकाला गया। कोई बड़े से बड़ा मुसलमान न होगा जो इस अर्थी के साथ न गया हो। कादियानी पत्र 'लाइट' ने लिखा—"प्रत्येक हिन्दू राजपाल है, इसलिए प्रत्येक मुसलमान को इल्मुद्दीन बन जाना चाहिए।"

इस प्रसंग में यह लिखना उचित प्रतीत होता है कि 'रंगीला रसूल' के लेखक पं० चमूपति एम० ए० थे। उनका नाम पुस्तक पर प्रकाशित नहीं हुआ था। अभियोग चलने पर भी राजपाल जी ने लेखक का नाम प्रकाशित नहीं किया।

इस प्रसंग में दूसरी उल्लेख योग्य बात यह है कि महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में रंगीला रसूल के सम्बन्ध में एक कठोर टिप्पणी लिखी थी। आर्य लोगों को प्रस्तुत टिप्पणी के सम्बन्ध में यह शिकायत थी कि उसमें 'उन्नीसवीं सदी का महर्षि' को लगभग बेलाग छोड़कर सारा रोष 'रंगीला रसूल' पर ही प्रकट किया गया था। राजपाल जी के विरुद्ध मजहबी जोश उत्पन्न होने में 'यंग इण्डिया के' नोट से पर्याप्त सहायता मिली, इसमें सन्देह नहीं।

एक दृष्टि से महाशय राजपाल जी का बलिदान पं० लेखराम जी और स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदानों से भिन्न था। पंडित जी और स्वामी जी धर्मयुद्ध के प्रख्यात सेनानी थे। उनका सारा सार्वजनिक जीवन धर्म के रणक्षेत्र में व्यतीत हुआ था। उन पर किसी धर्मान्ध व्यक्ति का आक्रमण अत्यन्त निन्दा के योग्य होकर भी समझ में आ सकता था, परन्तु महाशय राजपाल का बलिदान तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे किसी बाप से नाराज होकर कोई आततायी उसके मासूम बच्चे के पेट में छुरी भोंक दे। महाशय राजपाल एक अत्यन्त सौम्य और शान्त प्रकृति के धार्मिक व्यक्ति थे। सबसे हंसकर बात करते थे और सच्चे व्यापारियों

की तरह किसी को दुश्मन नहीं बनाना चाहते थे। उनका बलिदान शांति, धैर्य और अडिगता का अनुपम उदाहरण है।

महाशय जी के मित्र कहा करते थे मौत से मत खेलो। वे कहते मौत से डरे तो जिन्दगी क्या ? वे बड़े तार्किक वा बड़े शास्त्रार्थी नहीं थे। वे सीधे सादे एक सच्चे मनुष्य थे—अभिमान आदि से शून्य। वे शिष्टता की मूर्त्ति थे। पुस्तक विक्रय का कार्य वे धर्म की दृष्टि से सेवा के लिये करते थे और इसी मार्ग में हँसते-हँसते अपनी जान देदी।

इनके शहीद हो जाने के उपरान्त शिमले में स्व० स्वामी स्वतंत्रानन्द जी से मालवीय जी मिले। उन्होंने उनसे पूछा—राजपाल ने उस पुस्तक के लेखक का नाम बताया या नहीं। उन्होंने कहा -न अभियोग में, न पहली बार आक्रमण होने पर। अर्थात् मरण तक किसी को यह नहीं बतलाया कि इस पुस्तक का लेखक कौन है ? इस पर मालवीय जी ने कहा—ये बड़े महान् आत्मा हैं। जान देते हैं पर बात नहीं बतलाते।

स्वामी जी को उस समय प्रसिद्ध कवि वारिशशाह की यह पंक्ति याद आई—

वारिशशाह न भेद संदूक खुले।
भावें जान दा जंदरा टूट जावे॥



आर्यसमाज के शहीद—दत्तात्रय (उमरी) राधाकृष्ण जी (निजामाबाद) श्यामलाल (हैदराबाद) विष्णुभगवान जी (ताण्डूर)
शिवचन्द्र जी (हुमनाबाद) वेदप्रकाश जी (गंजोटी)

हैदराबाद सत्याग्रह के आर्य शहीद

१—पं० श्यामलाल जी

पं० श्यामलाल जी का जन्म हैदराबाद राज्य के बीदर जिले के आलकी नामक गांव में हुआ था। आपके पिता पं० भोलानाथ जी कट्टर सनातनी एवं पौराणिक थे। पैतृक परम्परा के अनुसार श्यामलाल जी का विश्वास और श्रद्धा श्री मारुति और माणिक प्रभु के मन्दिरों में विशेष रूप से थी। पिता की मृत्यु के बाद श्री गोकुलप्रसाद तथा पं० वंशीलाल जी के प्रभाव में आ कर आप शीघ्र ही आर्यसमाजी बन गये प्रसिद्ध आर्य नेता पं० वंशीलाल जी आपके बड़े भाई थे। न केवल हैदराबाद राज्य में अपितु बम्बई तक में आप अपने धर्म—प्रेम और उत्साह के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। हैदराबाद हाईकोर्ट के जज अशगर यार जंगबहादुर ने लिखा था कि इसे धार्मिक पागलपन है। १९३१ में हैदराबाद राज्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। आप तीन वर्ष बाद ही उसके मंत्री चुने गये।



कई बार सरकार की ओर से जाली अभियोग लगाकर पं० श्यामलाल जी को फंसाने की चेष्टा की गयी थी। १९३८ में उदगीर में हिन्दू मुस्लिम दंगा हुआ। इसमें अन्य १८ हिन्दुओं के साथ पण्डित जी को भी पकड़ लिया गया। जेल में आपका स्वास्थ्य गिरने लगा। आप बचपन से ही निर्बल प्रकृति के थे। आंख के आपरेशन तथा अन्य व्याधियों के कारण डाक्टर ने आपको सिर्फ केला दूध लेने की सलाह दी थी। जेल के अधिकारियों से उनके बार बार प्रार्थना करने पर भी यह पथ्य उन्हें न दिया गया। परिणामतः आपको कई बार अनशन करना पड़ा। अन्त में जेल की यातनाओं के असह्य हो जाने के कारण १६ दिसम्बर १९३८ को आपका स्वर्गवास हो गया। उस समय शोलापुर के प्रसिद्ध डाक्टर श्री नीलकण्ठ राव एल० एम० एस०, के० एल० ओ० (वियाना) ने शव की परीक्षा करने के बाद

लिखा था—"पेठ सिकुड़ कर पीठ से जा लगा था। हाथ के नाखून काले पड़ गये थे। दाईं टांग के गिट्टे के पास आध इंच घेरे का एक घाव पाया गया। दाईं टांग पर भी एक लम्बा घाव था। इन चिह्नों से यह संशय प्रकट किया गया कि उन्हें कोड़े मारे गये थे तथा अन्य प्रकार की यातनाएं दी गयी थीं।" इन्हीं दिनों शोलापुर में आर्य कांग्रेस की तैयारियों के बीच बड़ी शान से आपका दाह-संस्कार किया गया।

२. स्वामी सत्यानन्द जी



स्वामी सत्यानन्द जी का जन्म संयुक्तप्रान्त में हुआ था। संन्यास लेने के बाद लगभग २० वर्ष से वे दक्षिण में कार्य कर रहे थे। बंगलौर में अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम से आश्रम स्थापित कर आप वहीं रहते थे। आपने १८ वानप्रस्थी साथियों के साथ गुलबर्गा में सत्याग्रह किया। वहां से उन्हें चंचलगुडा भेज दिया गया। २७-४-३९ को आपका देहान्त हो गया। सरकारने अपने वक्तव्य में स्वामी जी के बारे में लिखा था कि "२३ अप्रैल को जब आप जेल में आये तो आपको तेज़ बुखार था। २६ अप्रैल को आपको उस्मानिया हस्पताल भेज दिया गया। यहां अगले दिन हार्ट फेल हो जाने से मृत्यु हो गई। सरकारी डाक्टर ने शव की जांच के बाद प्रमाणित किया कि शरीर पर घाव का कोई चिह्न नहीं है।" अगले दिन मन्त्री आर्य समाज के एक प्रतिनिधि को उनका शव सौंपा गया तथा उससे इस आशय की रसीद ले ली गयी कि शव अच्छी अवस्था में पाया। सरकार से किसी अन्य प्रकार की शिकायत किये बिना ही शव का दाह-संस्कार कर दिया गया। डा० अंचोलिकर एम० बी० बी० एस० ने भी आपके शव की परीक्षा की। उन्होंने जो रिपोर्ट दी वह सरकारी रिपोर्ट के बिलकुल विरुद्ध थी। डा० अंचोलिकर ने बताया था कि स्वामी जी के बायें कान के पीछे घाव और आसपास खून जमा हुआ था। उन्होंने आंख के पास और पीठ तथा भुजाओं पर कुछ चोट के निशानों के चिह्न भी बताये थे। आर्यसमाज सुल्तान बाज़ार के मन्त्री पं० श्रीराम शर्मा ने अपने २८ अप्रैल के पत्र में लिखा था कि "स्वामी जी ने हवन न करने देने पर २३ सत्याग्रहियों के साथ भूख हड़ताल की हुई थी।" इसी बात काद्योतक एक और गुमनाम पत्र भी जेल से मिला था। जेल से शव को लाने वाले चन्द्रपाल के वक्तव्य के अनुसार भी स्वामी जी के कान व

आंख के पास घाव थे। पं० धर्मदत्त, श्री मोहनलाल वर्मा, श्री पुमानराव, श्री जिन्दाबाद तथा श्री मानिकचन्द के भी वक्तव्यों से चन्द्रपाल के वक्तव्य की पुष्टि होती है।

३. श्री परमानन्द जी

परमानन्द जी हरिद्वार निवासी श्री गोकुलप्रसाद के सुपुत्र थे। आपकी अवस्था २० वर्ष की थी। २० सत्याग्रहियों के साथ लातूर में सत्याग्रह करके आप जेल चले गये। गुलबर्गा से उन्हें चंचलगुडा भेज दिया गया, जहां १ अप्रैल को आपका देहान्त हो गया। सरकारी विज्ञप्ति में कहा गया था कि "मैण्टल अस्पताल में साधारण अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई। उसकी देह पर घाव के कोई निशान न थे।" परमानन्द जी की मानसिक दशा खराब होने की सूचना इससे पहले नहीं दी गई थी। अन्य साक्षियों से भी सरकार के इस वक्तव्य का खंडन होता है। डा० फड़के एम० बी० बी० एस० ने नाक के पास चोट होने और नाक से खून निकलने की बात कही थी। डा० फड़के के कथनानुसार परमानन्द जी की बाईं भुजा पर तीन इंच लम्बा एक तिरछा घाव था। दाईं कोहनी और छाती पर भी घाव थे। नाक और मुंह से परीक्षा के समय भी खून निकल रहा था। पं० धर्मदत्त जी और श्री चन्द्रपाल जी को जेल से शव प्राप्त करने के लिए बहुत भाग-दौड़ करनी पड़ी। उन्हें मि० हालिन्स तक के पास जाना पड़ा। डा० फड़के की सम्मति में शव का विस्तृत पोस्टमार्टम होना आवश्यक था।

४—श्री विष्णु भगवन्त तन्दुरकर

विष्णुभगवन्त तन्दुरकर हैदराबाद राज्य के तन्दुर स्थान के निवासी थे। आपकी आयु ३० वर्ष की थी। गुलबर्गा में गिरफतार होने के बाद आपको हैदरा॰ बाद जेल में भेज दिया गया। १ मई को आपका स्वर्गवास हो गया। सरकारी विज्ञप्ति में बताया गया था कि आपको उदर रोग से पीड़ित होने के कारण ३० अप्रैल को उसमानिया अस्पताल भेज दिया गया था। वहां हार्ट फेल हो जाने से १ मई को आपकी मृत्यु हो गयी। सरकार ने तन्दुरकर के सम्बन्ध में भी एक विज्ञप्ति निकालकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास किया था। किन्तु डा० अंचोलिकर तथा डा० फड़के की सम्मतियां इसके विपरीत थीं। श्री विनायकराव

विद्यालंकार, श्री नरसिंहराव, और हनुमन्त राव जी ने अजहर हुसैन (सेक्रेटरी होम डिपार्टमेंट) से शव की परीक्षा करने की प्रार्थना की। किन्तु इस प्रार्थना पर कोई ध्यान न दिया गया। इन महानुभावों के वक्तव्यों के अनुसार तन्दुरकर के शव पर चोटों के अनेक निशान थे। श्री रामकृष्णराव बी० ए० एल० एल० बी० वकील हाईकोर्ट के वक्तव्य से भी यह प्रमाणित होता है कि तन्दुरकर को जेल में यातनायें दी गई थीं। उन्होंने कहा था "मैंने सिर के वाम भाग में, कान के पास एक घाव देखा, जिसमें से अब भी रक्त बह रहा था। मैंने दो काले चिह्न भी देखे। एक बाईं भुजा पर दूसरा दक्षिण स्कन्ध के पास। गर्दन के पीछे की चमड़ी बहुत लाल थी और नथनों से काले रंग का रक्त प्रवाहित हो रहा था।"

५-श्री छोटे लाल जी

राजगुरू धुरेन्द्र शास्त्री (स्वामी ध्रुवानन्द जी) के साथ सत्याग्रह करने वाले ५३१ सत्याग्रहियों में से आप एक थे। युक्तप्रान्त के अलालपुर स्थान के आप निवासी थे। आप अपने पिता के इकलौते बेटे थे। बीमार अवस्था में धूप में काम करने के कारण आपको लू लग गई तथा आप बेहोश हो गये। बेहोशी की अवस्था में एक छत के नीचे लिटाया गया, जहां उन्हें उल्टी और दस्त हुए। आधी रात तक दशा सुधरती न देख आपको हस्पताल भेज दिया गया। २ मई को वे बीमार पड़े थे तथा ३ मई की प्रातः देहान्त हो गया। २० सत्याग्रहियों को साथ



में जाने की आज्ञा देकर जेल वालों ने स्वयं ही आप का दाह-संस्कार कर दिया। शव का कोई फोटो भी न लेने दिया गया। कुछ दिन पश्चात् सरकार ने जो विज्ञप्ति निकाली उसमें वह इस बात से इन्कार न कर सकी कि 'छोटेलाल जी से बीमारी में और धूप में काम लिया गया।' जेल से मुक्त होने के बाद श्री राजगुरु जी छोटेलाल जी के गांव गये तथा उनकी माता को बधाई दी।

६-श्री नानुमल जी

श्री नानूमल जी मध्य प्रदेश के अमरावती शहर के निवासी थे। आपकी आयु ५२ वर्ष की थी। २६ मई को चंचलगुड़ा जेल में बीमार हुए। २६ मई को

उस्मानिया हस्पताल में निमोनिया से आपका देहान्त हुआ। आपकी मृत्यु और शव का किसी को पता तक न दिया गया। श्री हरिश्चन्द्र विद्यार्थी ने शव की प्राप्ति के लिए काफी भागदौड़ की। उन दिनों श्रीमती सरोजिनी नायडू हैदराबाद में ही थीं उनके द्वारा भी यत्न किया गया। किन्तु सब असफल रहा। दिल्ली से सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा की ओर से दिए तार पर भी कुछ ध्यान न दिया गया। शव को इस प्रकार छिपाकर दाह के लिए ले जाया जाना पहली अजीब घटना थी। अन्त में उस स्थान का पता लगा लिया गया, जहां शव का दाह किया गया था।

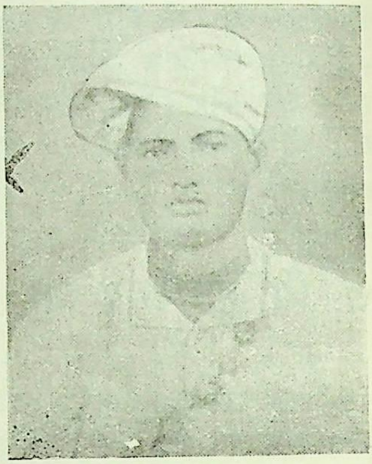
७—श्री माधवराव जी

माधवराव जी लातूर (हैदराबाद रियासत) के निवासी थे। आपकी आयु ३० वर्ष की थी। तीव्र ज्वर और लू के कारण २१ मई को आप गुलबर्गा जेल में बीमार हो गये और २६ मई को देहान्त हो गया। कुछ सत्याग्रहियों के साथ जेल वालों ने आपका दाह-संस्कार कर दिया। सत्याग्रह समिति की ओर से मृत व्यक्ति के विषय में जांच करने के लिए नियुक्त प्रतिनिधि को दाह-संस्कार में सम्मिलित सत्याग्रहियों से भी मिलने की आज्ञा न दी गई। शव का फोटो भी नहीं लेने दिया गया था। गुलबर्गा शहर की जनता ने शमशान तक साथ जाने की अनुमति मांगी, किन्तु उसे अस्वीकृत कर दिया गया।

८—श्री पाण्डुरंग जी

आप उस्मानाबाद (हैदराबाद रियासत) के निवासी थे। आयु २२ वर्ष की थी। गुलबर्गा जेल में आपको इन्फ्लुएन्जा हो गया। जेल हस्पताल में उपचार ठीक प्रकार से न हुआ। परिणामतः २५ मई को आपकी अवस्था अत्यन्त नाजुक हो गई। अतः आपको जेल के बाहर हस्पताल भेजा गया, जहां २७ मई को मृत्यु हो गई। शहर में मृत्यु का समाचार पहुंचते ही अपार भीड़ हस्पताल पर जमा हो गई। लेकिन उन्हें शव न दिया गया और न ही फोटो लेने का अवसर प्रदान किया गया। शव को वापिस जेल भेजकर कुछ सत्याग्रहियों एवं एक पुलिस के दस्ते को साथ लेकर उसकी शमशान भूमि में अन्त्येष्टि कर दी गई। श्री पांडुरंग का देहान्त होना सरकार ने ५ जुलाई को स्वीकार किया।

९—श्री सुनहरासिंह जी



सुनहरासिंह बुटाना (जिला रोहतक) के रहने वाले थे। आपके पिता का नाम श्री जगतराम था। आपका शरीर सुडौल एवं स्वास्थ्य उत्तम था। महाशय कृष्ण जी के साथ ५ जून को आपको गिरफ्तार किया गया था। जेल में जाकर आप अस्वस्थ हो गये। बगल में फोड़ा भी निकल आया था। उपचार में लापरवाही होने के कारण मर्ज बढ़ता गया। फोड़े एवं तेज बुखार के कारण उन्हें सन्निपात भी हो गया था। ८ जून प्रातः ७॥ बजे आपका देहावसान हो गया। सरकारी डाक्टर का बयान था कि मृत्यु बीमारी से हुई थी, अतः स्वाभाविक थी। लेकिन सुनहरासिंह के साथ हस्पताल में जो सलूक किया जाता था, उससे स्पष्ट था कि उपचार में लापरवाही की गयी थी। महाशय कृष्ण जी तथा अन्य साथियों को मृत्यु की सूचना भी कई घंटों बाद दी गई थी। श्री खुशहालचन्द जी 'खुरसन्द' बाद में बुटाना गये, वहां श्री सुनहरासिंह के पिता को बधाई देते हुए आपने उनके स्मारक रूप में गांव में आर्य मन्दिर की आधारशिला रखी।

१०-श्री महाशय फकीरचन्द

आप शारधा गांव (ज़िला करनाल) तहसील कैथल के रहने वाले थे। आयु ३५ वर्ष की थी। आपने भी महाशय कृष्ण जी के साथ औरंगाबाद में सत्याग्रह किया था। उदर-विकार होने के करण जेल अस्पताल में भर्ती किये गये। इस पीड़ा के अपेण्डी साइटीज का रूप धारण कर लेने पर आपको सिविल अस्पताल भेज दिया गया। ३० जून को आपरेशन हुआ। लेकिन आपरेशन के बाद समुचित देखभाल न होने के कारण १ जुलाई की सुबह ७ बजे आपका देहान्त हो गया।



११–श्री मलखानसिंह जी

आप रुड़की के निवासी थे। आयु ३५ वर्ष की थी। सहारनपुर जिले से इतने अधिक सत्याग्रहियों का जाना आपके ही परिश्रम का फल था। कांग्रेस के आन्दोलन में भी आप कई बार जेल हो आये थे। रुड़की के जत्थे के साथ पुसद में सत्याग्रह करने पर आप को चंचलगुड़ा जेल भेज दिया गया। १ जुलाई को आप का देहावसान हुआ। आप की बीमारी और मृत्यु के समाचार को अत्यन्त गुप्त रखा गया और जेल के शमशान में ही आप का दाह-संस्कार कर दिया गया।



१२–श्री स्वामी कल्याणानन्द जी



स्वामी जी मुज्जफरनगर के निवासी थे। उनकी आयु ७५ वर्ष की थी परन्तु उत्साह युवकों का साथ था। ८ जुलाई को हुई आप की मृत्यु का कुछ भी कारण बताये बिना १० जुलाई को आप की मृत्यु की सूचना दी गई थी।

१३–श्री शान्तिप्रकाश जी

श्री शान्तिप्रकाश जी की आयु १८ वर्ष की थी। जिला गुरुदासपुर के कलानौर अकबरी में आपका जन्म हुआ था। पिता श्री रामरत्न जी शर्मा नयी दिल्ली स्टेशन पर टिकट कलैक्टर थे। शान्ति प्रकाश जी घर से चुपचाप भाग कर बम्बई में सत्याग्रही जत्थे में शामिल हो गये थे ६ मई को गुंजोटी में आपने सत्याग्रह किया। उस्मानाबाद जेल में रखा गया। बीमार हो जाने के कारण शान्तिप्रकाश जी को सिविल हस्पताल में भेज दिया गया। हस्पताल से जेल भेजे जाने पर पुरानी बीमारी ने उग्र रूप धारण कर लिया। बीमारी के असाध्य होने पर



पुनः सिविल अस्पताल भेज दिया गया और इनके पिता को तार दिया गया। शांतिप्रकाश जी पर क्षमा मांगने के लिए काफी जोर डाला गया परन्तु आपने अपने पिता के सामने भी वीर हकीकतराय का दृष्टांत रखा और माफी मांगने से इन्कार कर दिया। बालक का साहस देखकर पिता ने भी माफी मांगने का आग्रह नहीं किया। २७ जुलाई को आपकी मृत्यु हो गई। मृत्यु का समाचार शहर में फैलते ही वहां हड़ताल हो गयी। सरकार ने शव देने से इन्कार कर दिया तथा अर्थी के साथ जाने की आज्ञा न दी गयी। २८ जुलाई को कुछ सत्याग्रहियों को साथ लेकर शव का वैदिक विधि से दाह-संस्कार कर दिया गया।

१४-श्री बदनसिंह जी

बदनसिंह जी की आयु १८ वर्ष की थी। मुजफ्फराबाद (जिला सहारनपुर) में आप का जन्म हुआ था। राजगुरु जी के अनुरोध को ठुकराकर डा० टीकासिंह जी ने अपने इकलौते पुत्र को अपनी सख्त बीमारी में भी सत्याग्रह में जाने से नहीं रोका। १७ जून को बदनसिंह जी ने बेजवाड़ा में सत्याग्रह किया। बारंगल की जेल में आन्त्र ज्वर से पीड़ित होने के कारण आप को जेल-हस्पताल में रखा गया, जहां २४ अगस्त को आप का देहान्त हो गया। डेढ़ मास बाद पिता की भी मृत्यु हो गयी।



१५-श्री ताराचन्द्र जी

१६ वर्षीय युवक ताराचन्द्र जी का जन्म लुम्ब ग्राम (जिला मेरठ) में हुआ था आपके पिता चौधरी केहरसिंह जी तथा अन्य घर वालों ने बड़े उत्साह के साथ आपको विदाई दी थी। २० अप्रैल को वे अपने जत्थे के साथ तुलजापुर पहुँचे। इसी जत्थे पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया था। २१ अप्रैल को नलदुर्ग में रखकर इस जत्थे के सत्याग्रहियों को विभिन्न जेलों में भेज दिया गया था। ताराचन्द्र जी ८ अगस्त को जेल से मुक्त होकर चांदा शिविर में पहुंचे, जहां वह बीमार हो गये। नागपुर में डा० लक्ष्मणराव परांजपे के उपचार तथा सिविल हस्पताल में भर्ती कराने पर भी आपकी बीमारी ठीक न हुई। ३० अगस्त को

आपके चाचा चौ० रामचन्द्र जी भी नागपुर पहुँच गये थे। २ सितम्बर प्रातः ४ बजे आपका देहान्त हो गया। दाह-संस्कार आर्यसमाज तथा हिन्दू महासभा ने मिलकर किया।

१६—श्री अशरफीप्रसाद जी

श्री फिरंगीशाह के पुत्र अशरफीप्रसाद जी नरकटियागंज (जिला चम्पारन) के निवासी थे। आयु २२ वर्ष की थी। २२ मार्च को वे गिरफ्तार हुए। भोजन अनुकूल न होने के कारण जेल में प्रायः बीमार रहते थे। क्षमा मांगने के लिए तैयार न देख सरकार ने इन्हें २३ अगस्त को मुक्त कर दिया। घर आकर भी आप बीमार ही रहे। अन्ततः २६ अगस्त को आप का देहान्त हो गया।

१७—ब्र० रामनाथ जी



इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था। गुरुकुल कांगड़ी के जिन ब्रह्मचारियों ने सत्याग्रह में भाग लिया था, उनमें सबसे पहले सत्याग्रह करने का सौभाग्य आप ही को प्राप्त हुआ था। ये जेल की नृशंस कहानियां कई बार अपने साथियों को सुनाया करते थे। आपकी टांग और पीठ पर कई घाव बने हुए थे। जेल से रुग्ण होकर आये। बाहर आने पर भी बीमारी ने पीछा न छोड़ा। इसी बीमारी के कारण आपका देहावसान हुआ।

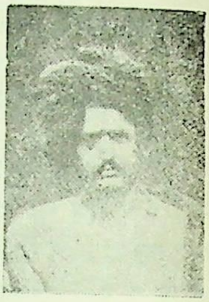
१८—श्री सदाशिव राव पाठक

श्री विश्वनाथराव जी के इकलौते पुत्र सदाशिवराव जी का जन्म लड़वाल (शोलापुर) ग्राम में हुआ था। जेल में आपसे पत्थर ढोने का कठोर परिश्रम कराया गया। बीमारी की अवस्था में भी इस परिश्रम से अवकाश न मिला। यही कठोर परिश्रम आपकी मृत्यु का कारण बना।

१९—श्री गोविन्दराव

श्री गोविन्दराव नलगीर (जिला बीदर) ग्राम के निवासी थे। हैदराबाद सेन्ट्रल जेल में रोगग्रस्त होने के कारण आपकी मृत्यु जिन रहस्यपूर्ण अवस्थाओं में हुई, उसका भेद आज तक नहीं खुला।

२० —श्री मातूराम जी



श्री मातूराम जी मिलिन्द (जिला हिसार) ग्राम के निवासी थे। आपकी आयु ४५ वष की थी। नौरंगाबाद जेल में बीमार होकर आप स्वांस ज्वर से पीड़ित रहे। २७ जुलाई को बीमारी की हालत में ही आपको जेल से मुक्त कर दिया गया। पुलिस आपको मनमाड स्टेशन पर लाकर छोड़ गई। उसने शिविर में कोई सूचना भी न दी। आपकी सत्याग्रह शिविर में सूचना पहुँचने पर आपको स्टेशन से शिविर लाया गया, जहां एक दिन बाद ही २८ जुलाई को आपका देहान्त हो गया।



२१—श्री वेंकट राव जी कधार

आपने स्टेट कांग्रेस की ओर से सत्याग्रह किया था। जेल अधिकारियों की मारपीट के कारण निज़ामाबाद जेल में आपकी मृत्यु हुई।

२२-श्री महादेव जी

आप निजाम प्रान्त के रहने वाले थे। गुलबर्गा में सत्याग्रह करके जेल गए। वहीं आपकी मृत्यु होगई।



२३—श्री रतीराम जी

रतीराम जी जिला रोहतक के ग्राम सांपला के निवासी थे। आपको भी भीषण बीमारी में जेल से छोड़ा गया तथा घर आने पर आपका स्वर्गवास हो गया।



२४–श्री पुरुषोत्तम ज्ञानी

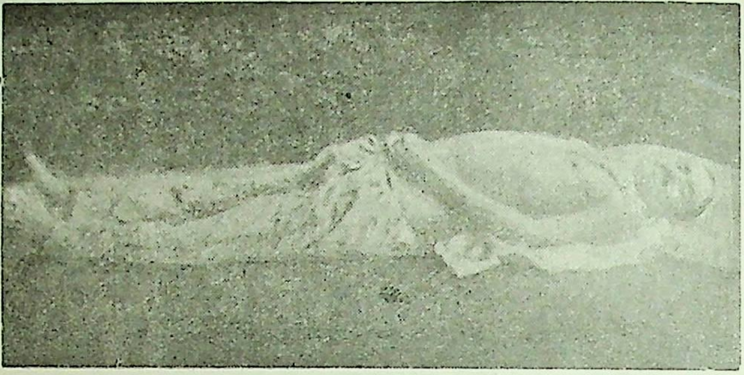
ज्ञानी जी बुरहानपुर के निवासी थे। आपको भी इसी प्रकार रुग्ण अवस्था में जेल से मुक्त किया गया था और घर आने पर आपका स्वर्गवास होगया।

२५–श्री वेदप्रकाश जी दासप्पा

वेदप्रकाश जी के पिता का नाम शिव बासप्पा था! माता का नाम रेवती बाई था। मराठी की सातवीं कक्षा तक शिक्षण हुआ था। इनका जन्म गुँजोटी पायगा में हुआ। आरम्भ से ही धर्म-कार्यों में रुचि होने के कारण आपने आर्यसमाजों के सत्सङ्गों में आना-जाना आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे अपने आप महर्षि के भक्त बन गए और समाज के कार्य को उत्साहपूर्व करने लगे जिससे स्थानीय मुस्लिम गुण्डे उनसे द्वेष करने लगे। द्वेष के कारण कई बार उन पर घातक आक्रमण हुए, परन्तु वे धैर्य के साथ साहसपूर्वक अपने निश्चय में दृढ़ रहे। इसी प्रकार प्रचार करते-करते कुछ समय व्यतीत हुआ ही था कि एक दिन लगभग १०० मुस्लिम गुण्डों ने उन्हें अकेले में घेर लिया और कहा कि मुसलमान बनो। उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा कि "मुसलमान बनने की अपेक्षा मृत्यु को मैं अधिक श्रेष्ठ मानता हूं।" यह वाक्य मुसलमानों ने सुनते ही क्रोधित होकर क्रूरता तथा निर्दयता के साथ मार्गशीर्ष ४ सं० १६६४ विक्रमी को तलवारों से वध कर डाला। वधिकों पर अभियोग चलाया गया, परन्तु उन्हें निर्दोष मुक्त कर दिया गया।

२६–श्री धर्मप्रकाश जी नागप्पा

इनके पिता का नाम सायबप्पा जी था। आपका जन्म शाके १८३६ में कल्याणी ग्राम में हुआ जो किसी समय चालुक्य वंशजों की राजधानी थी। अब वह एक मुसलमान नवाब की जागीर है। यहाँ मुसलमानों का बहुत प्राबल्य होने के



कारण हिन्दू जनता को अनेकों कष्ट दिए जाते थे, जो धर्मप्रकाश जी को असह्य प्रतीत होते थे। उन्होंने कष्टों के निवारणार्थ हिन्दू नवयुवकों को संगठित करके उन्हें लाठी, तलवार आदि सिखाना आरम्भ किया। निर्बल हिन्दुओं को बलवान् बनाने का कार्य मुसलमानों को बुरा प्रतीत हुआ और स्थानीय खाकसार पार्टी उनके विनाश की चिन्ता में पड़ गई और अन्त में ज्येष्ठ अवावस्या शाके १८६० तदनुसार ता० २७ जून १९३८ ई० को रात्रि के आठ बजे, जब कि धर्मप्रकाश जी आर्यसमाज के सत्सङ्गों से घर लौट रहे थे, खाकसारों ने उन्हें गली में अकेले घेर कर बर्छों, भालों तथा तलवारों से प्रहार करके क्रूरता के साथ वध कर दिया। वधिकों पर अभियोग चलाया गया, परन्तु अदालत ने उन्हें निर्दोष कह मुक्त कर दिया।

२७—श्री महादेव जी अकुलगा

आप अपने प्रान्त में आर्यसमाज का प्रचार बड़ी लगन से कर रहे थे। प्रचार में अकुलगा मुख्य प्रचार क्षेत्र था। इनके प्रचार से मुसलमानों को जो हिन्दुओं से अनुचित लाभ प्राप्त हो रहा था, वह प्रायः बन्द होने लगा था। इस कारण जब कि महादेव जी प्रचारार्थ कहीं जा रहे थे, मिहर अली नामक व्यक्ति ने ता० १४ जुलाई १९३८ ई० को पीछे से आकर छुरा भोंक कर इनका अंत कर दिया। इस प्रकार धर्म पर महादेव जी का बलिदान हुआ।

२८—श्री राम कृष्ण जी

तावसी ग्राम में अछूत कहे जाने वाले परिवार में इनका जन्म हुआ। मृत्यु से लगभग दो सप्ताह पूर्व यज्ञोपवीत धारण करके समाज में प्रविष्ट हुए थे। एक दिन पठानों ने ग्राम में घोषणा की कि हम मन्दिर तोड़ते हैं, जो सूरमा हो वह बाहर आकर मन्दिर को बचा ले। सब हिन्दू भयभीत होकर घर में बैठे रहे। रामकृष्ण का खून खौला और हिन्दू मन्दिर के रक्षण के लिए कूद कर बाहर निकल आया, निहत्था था। गोलियों के कई वार हुए, परन्तु जख्मी होते हुए भी पठानों को भगा दिया और मन्दिर को बचा लिया। उस्मानाबाद के हस्पताल में जाने के पश्चात् ३—४ दिन में मृत्यु हो गयी।

२९—श्री भीमराव जी

श्री भीमराव जी पटेल के घर पर मुसलमानों ने आक्रमण किया, क्योंकि उन्होंने अपने मित्र माणिक राव जी की भगिनी को शुद्ध कर लिया था। इस कारण मुसलमानों ने उनके घर को आग लगा दी और भीमराव जी को गोली मार दी और हाथ-पांव काट कर के अग्नि में जला दिया।

३०—श्री माणिक राव जी

इस वीर ने अपनी भगिनी को मुसलमान बन जाने पर शुद्ध कर लिया। इसीलिए इनको भी गोली का निशाना बनाया।

३१—श्री सत्यनारायण जी

यह वीर आर्यसमाज के कार्यों में भाग लिया करता था, जिसके कारण स्थानीय मुसलमान चिढ़ने लगे। मुहर्रम के अवसर पर जब वे बाज़ार जा रहे थे, तो रास्ते में एक मुसलमान ने तलवार से वार करके घायल कर दिया। घायल दशा में हस्पताल में भेजा गया, जहां उनका देहान्त हो गया।

३२—श्री अर्जुनसिंह जी

आप सिक्ख सम्प्रदाय के थे। ताल्लुका कन्नड़, जिला औरंगाबाद के निवासी थे। हैदराबाद के दयानन्द मुक्ति दल के वे दलपति थे। आषाढ़ शुक्ल ११, शाके १८६१ को जबकि वह जंगली विटोबा की यात्रा का प्रबन्ध करके घर लौट रहे थे, मार्ग में सशस्त्र मुसलमानों ने आक्रमण करके घायल कर दिया। उसी समय इन्हें दवाखाना भेजा गया, जहां पर उनकी मृत्यु हो गयी।

३३—श्री राधाकृष्ण जी

आप निजामाबाद के निवासी थे। आपका जन्म राजस्थानी मारवाड़ी कुल में हैदराबाद नगर के ईसामियां बाजार मुहल्ले में पौष शु० ३ सं० १९५३ में हुआ। आपके पिता जी का नाम जीतमल जी था। आप वैष्णव सम्प्रदाय के मानने वाले थे। आप सन् १९३४ ई० में आर्यसमाजी बने और उसी समय से आर्यसमाज के प्रचार की धुन में लग गए। निजामाबाद में आर्यसिद्धान्तों का मौखिक प्रचार आरम्भ कर दिया। आर्य समाज के अनुकूल कुछ लोगों को होते देख पं० नरेन्द्र जी मंत्री आर्यप्रतिनिधि सभा, हैदराबाद स्टेट द्वारा सन् १९३५ ई० में निजामाबाद आर्यसमाज की स्थापना करके नियमित प्रचार की व्यवस्था की। आर्यसमाज का प्रचार स्थानीय पुलिस अधिकारियों को खटकने लगा। मुहर्रम के अवसर पर एक अभियोग नियमाधार १०४ के अन्तर्गत चलाया गया और एक वर्ष के लिए दो हजार का मुचलका लेकर छोड़ दिया। परन्तु आप प्रचार कार्य पूर्ववत् करते रहे। और प्रत्यक्ष रूप में आर्य सत्याग्रह में धन-संग्रह आदि का कार्य करने लगे। यह देख वरिष्ठ अधिकारियों के द्वेष की सीमा न रही। ता० २-८-३९ ई० को पुलिस स्टेशन के सामने एक धर्मान्ध अरब द्वारा श्री राधाकृष्ण जी को कत्ल करवा दिया गया। इस प्रकार इन्होंने वैदिक धर्म पर अपने आप को बलिदान कर दिया।

३४—श्री शिवचन्द्र जी

श्री शिवचन्द्रजी का जन्म ३ मार्च, सन् १९१६ ई० को दुबलगुण्डी पायगा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम अण्ण बसप्पा था। आप १९३५ ई० में मैट्रिक

परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए जिसके कारण गवर्नमेंट ने १६५) पुरस्कार दिया। आप इस्लामिया स्कूल हुमनाबाद में अध्यापकी का कार्य करते रहे और इसी काल में उन्होंने आर्य साहित्य का पठन-पाठन भी आरम्भ किया। आर्य-साहित्य का उन पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने आर्यसमाज में प्रविष्ट होकर यज्ञोपवीत धारण कर लिया। आपको कार्यकुशलता तथा सदाचार से मुग्ध होकर पं० नरेन्द्र जी मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा, हैदराबाद ने उन्हें आर्योपदेशक बनने के निमित्त प्रेरित किया। आपने सहर्ष स्वीकार करके प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया। हुमनाबाद, सदाशिव पेठ आदि स्थानों में जहां मुसलमानों का बहुत प्राबल्य है, समाजें तथा पाठशालाएं स्थापित कीं। जिसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान द्वेष करने लगे। ता० ३-३-४२ ई० को होली के अवसर पर जब कि आर्यसमाज हुमनाबाद का जलूस निकल रहा था, मुस्लिम गुण्डों ने पुलिस की सहायता से बन्दूकों से आक्रमण कर श्री शिवचन्द्र जी के साथ-साथ श्री लक्ष्मण राव जी, श्री रावजी राव इंगडे और श्री नरसिंह राव जी को गोली का निशाना बनाया। ये तीनों व्यक्ति भी आर्यसमाज के विशेष भक्त थे।

इस प्रकार अनेक वीरों की आहुति देकर हैदराबाद के धर्म युद्ध में आर्यसमाज ने विजय प्राप्त की !

आर्य समाज के अन्य शहीद

१–स० घुन्नासिंह जी

श्री घुन्नासिंह जी का जन्म लताला जिला लुधियाना में सं १९३८ सन् १८८१ ई० में हुआ था। इनके पिता श्री खम्मन सिंह जी और इनकी माता श्रीमती भागवदवी थी। इनका विवाह ६ वर्ष की आयु में हो गया था। आप पं० लेखराम जी की पुस्तकें पढ़कर आर्यसमाजी हुए। इनका परिवार सम्पन्न था। इनके कार्यों से ग्राम के अकाली रुष्ट हो गए उन्होंने घोघड़ नामक मुसलमान को भी साथ मिला लिया। और ११ मई १९३० को जब यह दुकान खोल ही रहे थे, इन्हें लाठी और डण्डों से घायल कर दिया। इन्होंने अपने क्षेत्र में आर्यसमाज का घूम २ कर बहुत ही प्रचार किया था।

२–लाला लोरेन्दाराम जी

आप का जन्म सन् १८८६ ई० में लाला आयाराम साहब के घर बन्नू में हुआ। आप एम० ए०, एल० एल० बी० तक पढ़े। अपने क्षेत्र के प्रतिष्ठित वकील थे। यह सदैव सभी गरीबों की सहायता के लिए तैयार रहते थे। अतः क्षेत्र के दुष्ट व्यक्ति इनके शत्रु बन गए। परिणामस्वरूप जब यह एक दिन कचहरी जा रहे थे, तो इन्हें मारने का यत्न किया गया, किन्तु बच गए। इसके बाद एक दिन रात्रि के समय किसी ने इन्हें बुलाया, जब यह नीचे उतरे, तो वह इन्हें गोली से जख़मी करके भाग गया। रावलपिण्डी इलाज के लिए ले जाते हुए मार्ग में यह शहीद हो गए। इनका शहीदी दिवस ६ नवम्बर १९३४ है।

३–श्री विद्यासागर जी

श्री विद्यासागर जी का जन्म मोजा सुलोई जिला जेहलम में पौष संवत् १९७५ वि० को हुआ। आप के पिता का नाम श्री मौलिक चन्द जी था। वे डाकखाना में पोस्टमास्टर थे। इनके पिता का आर्यसमाज गुरूकुल विभाग

जेहलम के निर्माण में बड़ा हाथ था। इनके पिता ने श्री विद्यासागर को गुरुकुल कमालिया में पढ़ने के लिए भेजा। पश्चात् इन्होंने जालन्धर आकर संगीत सीखा, फिर आर्यसमाज पटियाला में कार्य किया। इनके पिता की चूहा सदन शाह में तबदीली हो गई थी। एक दिन यह पिता से क्रुद्ध हो कर घर से चले गए। श्री विद्यासागर जी का डील डौल बहुत अच्छा था। इनके स्वभाव के कारण आस पास के मुसलमान जलने लगे। अतः हाता नामक एक स्त्री ने खंजर की शकल का चाकू इनकी छाती में घोंप दिया। समय पर डाक्टरी सहायता न मिलने के कारण १६ अप्रैल १६३६ ई० को नागरिक अधिकारों की रक्षा के कारण इन का देहान्त हो गया।

४—भगत अरोड़ामल जी

आप सरगोधा में एक फर्म में चपड़ासी का काम करते थे, कुंवर सुखलाल जी के भजन सुनकर आप में आर्यसमाज के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। हैदराबाद के सत्याग्रह में आपने अत्यन्त उत्साह से भाग लिया। जेल में अत्यधिक रुग्ण होने पर आपको छोड़ दिया गया, किन्तु घर पहुँचने से पहले ही लाहौर में ६ अगस्त १६३६ को आप शहीद हो गए।

५—श्री परमानन्द जी

७ अप्रैल १६२० को डेरा गाजी खां में एक दुकानदार के घर श्री परमानन्द जी का जन्म हुआ। लाहौर आकर यह जिल्दसाजी का काम कर रहे थे, सत्यार्थ प्रकाश की जिल्द बांधने का काम करते हुए जब मुसलमान जिल्दसाजों ने इन्हें सत्यार्थ प्रकाश की जिल्द बांधने से रोका और सत्यार्थ प्रकाश में आग लगानी चाही तब इन्होंने उन्हें रोका और परिणाम स्वरूप मुसलमान जिल्दसाजों ने इन की हत्या कर दी। २६ मई १६४४ को दिन के ३ बजे यह शहीद हो गए।

६—साहुकार पालामल जी

श्री पालामल जी ममदोट जिला फिरोजपुर के रहने वाले थे। एक बार एक मुसलमान को नमाज पढ़ते हुए देख कर इन्होंने उसे फटकारा और कहा कि तुम करज का रुपया अदा तो करते नहीं इस तरह नमाज का ढोंग रचने से क्या

लाभ ? जब तुम में ईमानदारी ही नहीं है। इस पर मुसलमानों ने एक होकर उन की हत्या कर दी। इनके घातक का नाम मोहम्मद सदीक था।

७-श्री देवकीनन्दन जी

इनके पिता का नाम श्री नत्थूराम जी था। यह मखड़ ग्राम जिला कैम्बलपुर निवासी थे इन्होंने एक मुसलमान कन्या को शुद्ध करके उससे विवाह किया। इस शुद्धि से मुसलमान बिगड़ गए और इनकी हत्या कर दी।

८-श्री मुरलीमनोहर

मुरली मनोहर कंधार का रहने वाला था। यह एक दिन गीता का पाठ नदी में स्नान करते हुए कर रहे थे तो मुसलमानों ने इनके देवी देवताओं को गाली देनी शुरु की जब इन्होंने भी कड़े शब्दों में जवाब दिया तो मुसलमानों ने इनका कत्ल करने का आन्दोलन चलाया। कचहरी में जाने पर मुसलमान मजिस्ट्रेट ने कहा कि अगर तुम इसलाम कबूल कर लो तो तुम्हें छोड़ा जा सकता है। मुरली मनोहर ने वीर हकीकत राय की घटना को दोहराते हुए अपने मां बाप मित्रों की बात नहीं मानी और मरना स्वीकार किया किन्तु धर्म नहीं छोड़ा। एक जगह मुरली को आधा गाड़ दिया गया और मुसलमानों ने ईएट पत्थर ढेलों से वीर बालक को २३ वर्ष की अल्प आयु में अमर शहीद बना दिया।

९-ब्र० दयानन्द



इनका जन्म सन् १९१९ के पौष मास में हुआ था। इनके पिता का नाम रघुनन्दन शर्मा था। महाविद्यालय ज्वालापुर में शिक्षा प्राप्त करते हुए इन्होंने हैदराबाद सत्याग्रह में भाग लिया जेल में रह कर इनका स्वास्थ्य इतना अधिक बिगड़ा कि जेल से छूटने के बाद इनको दस्त आने आरम्भ हो गए और ९ मार्च १९४४ के दिन अत्यन्त अल्पायु में स्वर्ग सिधार गए।

१०—श्री नारायण सिंह जी

इनका जन्म सन् १८६२ ई० में पटना नगर के धीरा नगर में हुआ। इनके पिता बाबू सीताराम जी थे, यह सभी पहलवान थे। आर्यसमाज के छटे नियम पर यह अत्यन्त मुग्ध थे। इनके पड़ोस में एक माता ने अपनी बेटी को मुसलमान के हाथ बेच दिया तो यह उसे वापस ले आए इस प्रकार अनेकों हिन्दु अबलाओं की मुसलमानों से रक्षा की। इनके कार्यों से कुछ व्यक्ति इनके अत्यन्त विरोधी हो गए। और एक दिन दिन दहाड़े पटना की गलियों में बरछी और भालों से इनका वध कर डाला।

११—श्री बैजनाथ जी



श्री वैद्य नाथ जी चम्पारन जिले के नरकटिया गंज स्थान में श्री धरीछन्नराम जी के घर पैदा हुए। यह अत्यन्त सम्पन्न परिवार के थे। विवाह के तुरन्त पश्चात् ही आपने हैदराबाद सत्यग्रह में भाग लिया और वहां से रुग्ण होकर छूटे और २५-६-१९३९ को आपका देहान्त हो गया।

१२—श्री ब्रजलाल जी आर्य

आप चंचोली के निवासी थे। वहां ताजियादारी की प्रथा खत्म करने में आपका बड़ा हाथ था। आर्यसमाज और इनके बढ़ते हुए प्रभाव को मुसलमान सह न सके और कातिल अब्बासखांन ने खेत में इनकी छाती में छुरा मार दिया। मृत्यु के समय इनकी आयु ३० वर्ष की थी। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके पिता और इनकी पत्नी दोनों भी वियोग न सह सके और इन दोनों का भी देहान्त हो गया।

१३–श्री लक्ष्मणराव जी

आपने हैदराबाद सत्याग्रह में भी भाग लिया। जेल में २ अगस्त १६३६ को आप का देहान्त हो गया।

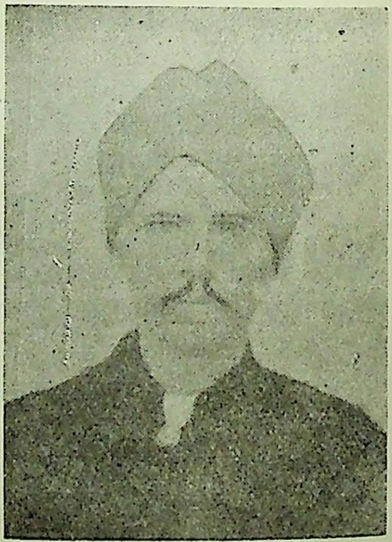
१४–श्री अर्जुनसिंह जी

आप औरंगाबाद में दयानन्द मुक्ति दल के दलपति थे। आषाढ़ शुक्ला ११ संवत् १८६१ को सशस्त्र मुसलमानों ने उन पर आक्रमण करके घायल कर दिया। कुछ देर के बाद यह शहीद हो गए।

१५–श्री पुरुषोत्तमदास मगनलाल शाह

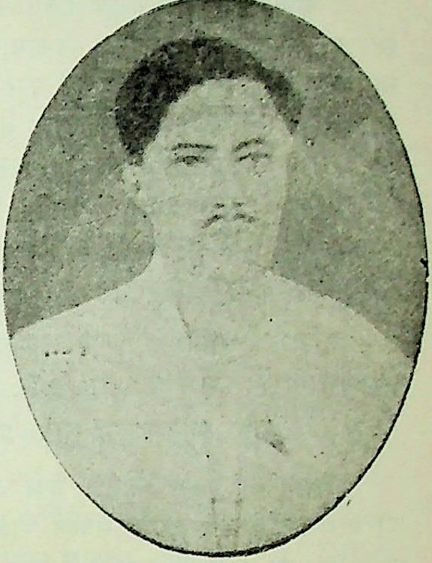
आप गोदारा जिला पंच महाल बम्बई प्रदेश के निवासी थे। यहां मुसलमानों की जनसंख्या बहुत है। यह वकील थे। हिन्दुओं की रक्षा के लिए सदैव तैयार रहते थे। मुसलमान इनके कामों से बौखला उठे। सन् १६२८ के सितम्बर मास के तीसरे सप्ताह में जैनियों का एक पर्व था, उस में मुसलमानों ने हुल्लड़ मचाया, जिसमें २० हिन्दु घायल हुए। इसी में आप भी शहीद हुए।

१६–श्री खण्डेराम गणपतराव जगताप जी



आपके पिता श्री गण पतराव जी कट्टर शैव थे। आपका जन्म १५ मार्च सन् १८८६ वारदौली जिला सूरत में हुआ। आप सन् १६१४ में आर्यसमाज के सभासद बने और पुस्तकाध्यक्ष भी। सन् २६ में आप हिन्दु सभा में शामिल हुए। एक हिन्दु वीर को जमानत पर छुड़ाने के लिए आपने अपने प्राणों की बाजी लगा दी इस पर मुसलमान बिगड़ गए और इनामखां-नूरखां ने छिपकर इन पर वार किया। और ६ मार्च १६३० को आप शहीद हो गए।

१७–श्री नत्थूराम जी



आपका जन्म ६ अप्रैल १६०८ को हुआ था। आपके पिता का नाम श्री पं० कीमतराम जी था। आप अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। आप ने ईसाइयों की एक पुस्तक का अनुवाद किया जो मुसलमानों के खिलाफ लिखी थी इससे आपको डेढ़ वर्ष की जेल तथा एक हजार रुपया जुर्माना हुआ। २० सितम्बर १६३४ के दिन कचहरी में ही अब्दुल कयूमखां नामक पठान ने इनके पेट में छुरा घोंप दिया और ये तत्काल ही शहीद हो गए।

१८–श्री नरुमल जी

आपका जन्म श्री आसुमल जी के घर सन् १६११ में हुआ था आप ने राष्ट्रीय अन्दोलनों में भी भाग लिया मुसलमान आपसे बहुत रुष्ट रहा करते थे अन्त में खोजा जाति के एक वधिक ने दिन के १२ बजे इन का छुरे से वध कर दिया। वधिक को फांसी मिली।

१६–श्री भैरोंसिंह जी

आप पखार गांव बांधीकूई जयपुर के निवासी थे। यह रेलवे में काम करते थे इनका आर्यसमाजी होना अब्दुल रशीद नामक मुसलमान को बहुत अखरता था। सन् १६३४ ई० में अब्दुल रशीद ने २७ वर्ष की अल्पायु में इनकी हत्या कर दी।

२०–श्री मेघराज जी

आप नारायण गढ़ होल्कर राज्य के निवासी थे। आपका जन्म संवत् १६३६ में हुआ। अछूतों को प्रवेश का अधिकार दिलाने के लिए आपने निरन्तर यत्न किया। परिणाम स्वरूप पौराणिक इनके शत्रु बन गए। और रामनवमी के दिन इन्हें ७ सशस्त्र व्यक्तियों ने अकेले घेर कर इनकी हत्या कर दी।

२१–श्री जयराम जी

आपका जन्म चैत्र कृष्णा १४ सम्वत् १९४९ में मौखी में हुआ हैदराबाद सत्याग्रह में आपकी जाने की लालसा थी। २९ मई १९३९ को सालापुर से सत्याग्रह शिविर हटाने के बम्बई सरकार के आदेश के विरोध में एक विराट सभा हुई, रास्ते में हिन्दु मुसलमानों में झगड़ा हो गया। जब यह समझाने के लिए पहुँचे तो मुसलमानों ने इन पर लाठियां बरसानी शुरू कीं इन्होंने सामना भी किया किन्तु फिर भी इनकी लाठी टूट गई और यह घायल हो गए। ३० मई १९३९ की प्रातः को इनका देहान्त हो गया।

२२–श्री राधाकृष्ण जी

आप राजस्थान के निवासी थे आपके पिता का नाम जीतमल था हैदराबाद के सत्याग्रह के संग्राम में २–८–१९३९ को आपका बलिदान हो गया।

२३– श्री शुक्रराज जी शास्त्री

आप का जन्म नेपाल देश की राजधानी काठमांडू में हुआ आपके पिता श्री माधव राव जी जोशी नेपाल राज-ज्योतषी थे। आपने स्वामी दयानन्द जी महाराज का भाषण काशी में सुना—वापस आते ही नेपाल में आर्यसमाज का प्रचार आरम्भ कर दिया और अपने दोनों बच्चों को सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) गुरुकुल में प्रवेश करा दिया—श्री शुक्रराज जी शास्त्री गुरुकुल के स्नातक बने और पंजाब से शास्त्री किया।

शास्त्री पास करके आप नेपाल पहुँचे तो जाते ही प्रचार के साथ साथ कई ग्रंथ लिख डाले जिनसे सारे नेपाल में एक हलचल सी मच गई। वहां राणाओं की हकूमत थी। हा-हाकार मचा था, कोई ज़बान न खोल सकता था। मूर्ति पूजा, श्राद्ध, शराब का विरोध अपराध था। नेपाल के राणाओं ने आप पर यह आरोप लगाया कि आप मूर्तिपूजा का खंडन और श्राद्ध का खंडन करते हैं और आर्यसमाज का काम करते हैं। केवल इस अपराध में आपको भारत नेपाल रोड पर एक पेड़ पर रात के १२ बजे फांसी दी गई। १२ घन्टे लाश पेड़ पर लटकती रही और सरकार ने एक बहुत बड़े कागज़ पर निम्न शब्द लिखकर इनकी छाती पर चिपका दिया !

"आर्य समाजी होने पर ऐसा ही दंड मिलता है"

यह पेड़ आज भी नेपाल से भारत आने वाली सड़क के किनारे खड़ा है इस की आज पूजा होती है जनता की ओर से और हर आने जाने वाला यात्री श्रद्धा से नत होता है।

हिन्दी सत्याग्रह के बलिदान

तीन शताब्दियां व्यतीत हो चुकी हैं, प्रत्येक शताब्दी में सन् सत्तावन खाली नहीं जाता। कुछ न कुछ भयंकर कर्म अथवा कोई न कोई विशेष बलिदान का अवसर अवश्य ही उपस्थित हो जाता है। १७५७ में प्लासी का युद्ध हुआ। १८५७ में भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम हुआ। १९५७ के आने से पूर्व ही प्रायः कहा जाता था कि सन् सत्तावन खाली नहीं जायेगा। हुआ यही, सन् सत्तावन के प्रथम चरण में गोआ सत्याग्रह चल ही रहा था, इसके पश्चात् पंजाब में हिन्दी रक्षा सत्याग्रह प्रारम्भ हो गया।

सन् १९५० के प्रारम्भ में जब गुरुमुखी को बलात् थोपने पर हरयाणा में विरोध हुआ था तब सरकार ने फार्मूले को लागू करना स्थगित कर दिया था। अगस्त ५५ तक सरकार को स्वयं यह पता नहीं था कि फार्मूले के प्रति उसका रुख क्या है। जब से पंजाब में गुरुमुखी की अनिवार्य पढ़ाई की चर्चा चली तभी से पंजाब के हिन्दी प्रेमियों ने अपने प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे। स्वामी आत्मानन्द जी महाराज की अध्यक्षता में 'हिन्दी रक्षा समिति' की स्थापना की गई। इस समिति ने अपनी सात मांगे सरकार के सम्मुख रखीं और आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। वे सात मांगें ये हैं—

समिति की सात मांग

१. सम्पूर्ण नये पंजाब राज्य में एक ही भाषा योजना लागू होनी चाहिये।

२. शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा के माध्यम का चुनाव पूरी तरह माता-पिता की इच्छा पर छोड़ देना चाहिये।

३. किसी भी विशेष स्तर पर दोनों भाषाओं में से किसी एक भाषा का द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाया जाना अनिवार्य नहीं होना चाहिए।

४. शासन के प्रत्येक स्तर पर अंग्रेजी भाषा का स्थान हिन्दी को दिया जाना चाहिये।

५. जिले के स्तर या उसके नीचे की सरकार की सब सूचनायें और निर्देश दोनों भाषाओं में होने चाहिये।

६. किसी भी भाषा में प्रार्थना पत्र देने की आज्ञा होनी चाहिए। उनका उत्तर भी उसी भाषा में होना चाहिये।

७. जिले के स्तर तथा उसके नीचे सरकारी कागजात दोनों लिपियों में होने चाहिये।

इनमें १, ३ और ७ मांगें मुख्य हैं और सबसे मुख्यतम है तीसरी।

सभी वैधानिक कार्यवाहियां करने के उपरान्त भी जब सरकार ने समिति की उपरिलिखित मांगों की ओर कोई ध्यान न दिया तब हिन्दी रक्षा आन्दोलन के सर्वाधिकारी स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने अपने पांच अन्य साथियों के साथ ३० मई ५७ ई० को सद्भावना यात्रा प्रारम्भ की और चण्डीगढ़ पहुँच कर पंजाब के मुख्य मन्त्री सरदार प्रतापसिंह कैंरों के आगे अपनी सातों मांग उपस्थित कीं। इस प्रकार ७ जून ५७ तक इन्होंने तीन बार सद्भावना यात्रा की। दो बार मुख्य मन्त्री से भेंट हुई थी किन्तु तीसरी बार मुख्य मंत्री महोदय इनके चण्डीगढ़ पहुँचने से पूर्व ही कुल्लू चले गये। इस बार सचिवालय के मुख्य सेक्रेटरी नकुलसेन और वित्तमंत्री मोहनलाल से भेंट हुई। सात मांगों के सम्बन्ध में विचार विमर्श भी हुआ किन्तु परिणाम कुछ न निकला। ३० मई की प्रथम सद्भावना यात्रा में स्वामी जी के साथ अच्छा व्यवहार किया गया और पुलिस सबको कार में बैठाकर यमुनानगर छोड़ गई। १ जून की द्वितीय यात्रा में स्वामी जी से अच्छा व्यवहार नहीं किया गया, मध्याह्नोत्तर ३ बजे तक स्वामी जी को भोजन नहीं मिला पुलिस जबर्दस्ती कार में बैठा कर साथियों सहित प्रातः ३॥ बजे यमुनानगर में पुनः छोड़ गई। ७ जून की तृतीय यात्रा में भी यही दुर्व्यवहार रहा, पुलिस बलात् मोटर में बैठा कर यमुनानगर छोड़ गई।

६ जून को स्वामी रामेश्वरानन्द जी के नेतृत्व में सद्भावना यात्रा का दूसरा जत्था रोहतक से चण्डीगढ़ पहुंचा। इस जत्थे के साथ पुलिस ने बहुत बुरा व्यवहार किया, उन्हें मारा पीटा गया और लारियों में ठूंसा गया, ब्र० विजयपाल पुलिस की चोट के कारण ४ घण्टे तक बेहोश रहा।

सद्भावना के विफल हो जाने पर १० जून को स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। घोषणा के पश्चात् सत्याग्रहियों के जत्थों का तांता बंध गया। प्रारम्भ में सरकार ने सत्याग्रह को विफल करने के लिए सत्याग्रहियों को पकड़ पकड़ कर सुदूर जंगलों और भयानक स्थानों में छोड़ दिया किन्तु सत्याग्रही दुबारा चण्डीगढ़ पहुंच कर सत्याग्रह करने लगे। तब सरकार ने सत्याग्रहियों को बुरी तरह मारना पीटना और तपती हुई सड़कों पर घसीटना शुरु कर दिया। सत्याग्रहियों को मारने के लिए गुप्त हथियारों का भी प्रयोग किया गया जिससे सत्याग्रही बेहोश होकर गिर पड़े। नाक से खून की धार बह निकली। स्वामी सन्तोषानन्द जी और स्वामी ईशानन्द जी आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। सत्याग्रहियों को लात घूंसों से मारना, नोंकदार कीलों से युक्त बूंट पहनकर

सत्याग्रहियों को कुचलना सिर के बाल और टांग पकड़ पकड़ कर गरम सड़कों पर घसीटना बलात् मोटरों में ठूंस-ठूंस कर घण्टों तक धूप में तपाना, पानी-पानी चिल्लाते हुए बन्दी सत्याग्रहियों को दो घूंट पानी भी पीने के लिये न देना। भयंकर जंगलों में छोड़ आना जहां पर कुछ भी खाने को न मिले और रेल मोटर आदि कोई सवारी भी निकट न मिल सके। सत्याग्रहियों को मारने पीटने के लिये कुछ गुण्डे भी छोड़ रखे थे। धार्मिक चिह्न ओ३म् ध्वज को फाड़ डालना। यज्ञ वेदी पर जूतों सहित चढ़ कर धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाना इत्यादि जघन्य कुकर्म पंजाब पुलिस ने किये।

सभी कांग्रेसियों को आन्दोलन में भाग न लेने का आदेश दिया गया। इस से असली और नकली 'अवसर वादियों' की छांट हो गई। आन्दोलन से सहानुभूति रखने वाले सरकारी कर्मचारियों को नौकरी से पृथक् कर दिया, कुछ को चण्डीगढ़ से स्थानान्तरित कर दिया। वीर अर्जुन प्रताप और हिन्द समाचार अखबारों पर १६ जुलाई को प्रतिबन्ध लगा दिया। यह है पंजाब में कैरोंशाही के कुछ नमूने आज के प्रजातन्त्र में।

हिन्दी रक्षा आन्दोलन को कुचलने के लिए पंजाब सरकार ने सभी उचित अनुचित साधनों का सहारा लिया। किन्तु "राग बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की।" सरकार के अत्याचारों ने जलती हुई अग्नि में ईंधन और तेल का काम दिया। साधु महात्माओं के मारने पीटने और सत्याग्रहियों के साथ किये गए दुर्व्यवहार को देखकर तथा सुनकर पंजाब की जनता में विशेषतया हरियाणा की जनता में अन्याय का प्रतिकार करने की भावना भड़क उठी।

२८ जुलाई ५७ को अनाज मण्डी रोहतक में एक विराट् सभा हुई जिसमें हरियाणा के सभी प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उसी दिन पुलिस ने स्वामी रामेश्वरानन्द जी को गिरफ्तार कर लिया, इससे जनता में रोष और जोश की लहर बिजली की तरह दौड़ गई।

३० जुलाई को रोहतक में दूसरे मोर्चे का श्री गणेश हुआ। जिलाधीश सरदार लालसिंह की कोठी पर सत्याग्रह किया गया। सत्याग्रहियों के साथ लगभग २० हजार अन्य जनता भी थी। भीड़ इतनी थी कि पुलिस लाइन को तोड़ कर अन्दर घुस गई। पुलिस की लाठियों से ७ सत्याग्रही भी घायल हुये। इस दिन के सत्याग्रह का दृश्य देखने योग्य था। जिस उत्साह और जोश के साथ सत्याग्रही नारे लगा रहे थे। उसका वर्णन लेखनी से नहीं, अपितु आंखों से देखने और कानों से सुनने से ही समझने योग्य था।

इस दिन के सत्याग्रह के कारण अनेक नेताओं को गिरफ्तार किया गया और वारण्ट जारी किये गये। डी० सी० की कोठी में डाका डालने का अभियोग चलाया गया। श्री आचार्य भगवान्देव और श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती पर डी०सी० की छोरी की चप्पल उठाने तक का जुर्म लगाया गया। जबकि ये दोनों महापुरुष उस दिन वहां उपस्थित भी न थे।

इस सत्याग्रह का विस्तृत इतिहास हरयाणा हिन्दी रक्षा-समिति दयानन्द मठ रोहतक के तत्त्वावधान में तैयार किया जा रहा है जो कि शीघ्र प्रकाशित किया जायेगा।

प्रो० किशोरी लाल का बलिदान

प्रो० किशोरी लाल बनारस का निधन हिन्दी सत्याग्रह में १६ वां बलिदान है इससे पूर्व अम्बाला ट्रेन दुर्घटना में ७ तथा अन्य प्रकार से ८ और व्यक्तियों ने पंजाब में हिन्दी माता की रक्षा के लिए अपनी बलि दी थी।

प्रो० किशोरी लाल जो २ अगस्त १९५७ को बनारस से श्री रामजी प्रसाद गुप्त मुख्य उपमंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के प्रथम प्रान्तीय जत्थे में एक सत्याग्रही के रूप में सम्मिलित हुए थे और पंजाब के जेल यातना भुगतने के बाद २० दिसम्बर ५७ को अम्बाला सेन्ट्रल जेल से रिहा हो कर बेहोशी की हालत में खान खाना पहुँचे। २६ दिसम्बर को उन्हें लुधियाना अस्पताल में दाखिल कराया गया और २ जनवरी ५८ को अस्पताल में ही उनका देहान्त होगया।

वह बनारस में इन्जीनियरिंग कालेज में अध्यापक थे उनका मासिक वेतन ३२५) रु० था उनके सम्बन्ध में निम्न बातें ऐसी हैं जो भुलाई नहीं जा सकतीं।

उन्होंने २ अगस्त ५७ को सत्याग्रही जत्थे में सम्मिलित होने के लिए १५ जुलाई ५७ (१५ दिन पूर्व) से ही अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। जेल में ही कालेज की ओर से उन्हें नोटिस मिला कि या तो अपने स्थान पर आकर काम करें अन्यथा नियमानुसार चार महीने का वेतन १३३०) रु० उनके प्राविडेण्ड फण्ड से काट लिया जायगा उन्होंने जेल से ही यह सहर्ष उत्तर दे दिया कि 'मैं नौकरी नहीं करूंगा १३३०) रु० मेरे प्राविडेण्ड फण्ड से काट लिया जाये।

२३ अगस्त को उन्होंने चण्डीगढ़ में सत्याग्रह किया और २४ अगस्त से १६ दिसम्बर तक अम्बाला सेन्ट्रल जेल में रहे। जेल से छूटते समय वह इतने दुर्बल हो गये थे कि अधिक दिनों तक जी नहीं सके। उनकी आयु २५ वर्ष की थी वह एक सच्चे आर्य सत्याग्रही थे जो जेल में अन्य सत्याग्रहियों की सेवा करना ही अपना धर्म समझते थे।

इस प्रकार अनेकों वीरों की आहुति लेकर हिन्दी आन्दोलन समाप्त हुआ।

आर्य समाज क्या चाहता है ?

ओ३म्

प्रथम अध्याय

१. विषय-प्रवेश

भारतवर्ष *आर्यों का आदि देश है। क्योंकि सृष्टि के आदि में आर्यलोग इसी देश में आ कर बसे। आर्य का अर्थ है—'श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य विद्यादि गुण युक्त अर्थात् धर्म –न्याययुक्त नियमों में चलने वाले शान्तिप्रिय और समाज का अभ्युदय चाहने वाले नागरिक।" तथा मानव सृष्टि होने के बाद "जिन्होंने भिन्न-भिन्न गुण कर्म-स्वभाव एवं रुचियुक्त भी व्यक्तियों को मिलाकर सामूहिक तौर पर सर्वोदय के निमित्त 'समाज' का संगठन किया," उन्हें भी आर्य कहते हैं।

ये मानव जाति के पूर्वज (मूल-पुरुष) सब से पहले "*त्रिविष्टप*" (तिब्बत अर्थात् हिमालय के विस्तृत प्रदेश) पर प्रगट हुए। इस 'आर्य-जाति' से पहले भूमण्डल (=संसार) में और कोई मानव-समुदाय नहीं था। ये आर्य लोग वहां से पहले पहल भारतवर्ष के फैले मैदानों में आये। इनके आगमन से पूर्व यहां कोई भी बसता नहीं था इन्होंने ही इस आर्यवर्त्त देश को बसाया। कालान्तर में जन-संख्या बढ़ जाने पर ये आर्य ही यहां से सर्वत्र भूमण्डल पर फैल गये और इस आर्य जाति के ही भिन्न-भिन्न 'भूभागों' (देशों) में भिन्न-भिन्न नाम हो गये।

ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "आर्यवर्त्त की अवधि उत्तरदिशा में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा पश्चिम में सरस्वती अटक नदी, जो उत्तर के पहाड़ों से निकल कर दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में मिली है। पूर्व में दृषद्वती, जो नैपाल के पूर्वभाग पहाड़ से निकलकर बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्म देश के पश्चिम और दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको ब्रह्मपुत्र भी कहते हैं।"

---

*वर्त्तमान 'भूमान—चित्र' में "इराक, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान हिन्दुस्तान, बर्मा, नैपाल, भूटान, तिब्बत, लंका" राष्ट्रों का निदर्शक समस्त भूभाग प्राचीनकाल में भारतवर्ष या आर्यवर्त्त कहाता था।

"हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्वत विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्य-वर्त्त देश इस लिए कहते हैं कि यह, देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यवर्त कहलाया है।" स. प्र. समु. ८,

सर्गारम्भ में एक पुरुष और एक स्त्री नहीं, किन्तु अनेक स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुये। वे सब तरुणावस्था में अमैथुनीसृष्टि द्वारा पैदा हुए थे। फिर परस्पर सम्बन्ध (=मैथुनी सृष्टि द्वारा अर्थात विवाह) करने से उन्हीं की सन्तान विशाल मानव जाति के रूप में परिणत हो गई। यदि आदि मानव बाल्यावस्था में उत्पन्न होते, तो उनकी पालना कौन करता और ये ज्ञान का विकास कैसे करते? यदि वृद्ध होते, तो आगे सन्तति न चलती। इस लिए उस समय सभी स्त्री पुरुष तरुण पैदा हुए थे।❀

यह बात निश्चित है कि सर्गादि में किसी के उपदेश (अर्थात् आदि ज्ञान) के बिना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, कोई भी मनुष्य विद्वत्ता नहीं प्राप्त कर सकता और किसी मनुष्य को ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। जैसे मानवों के भाषणादि व्यवहार के सम्पर्क से दूर एकान्त में रखने से एक बालक को कुछ भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता, न बोलचाल का व्यवहार ही आता है और जैसे वनों में रहने से बिना उपदेश के कारण, मनुष्यों की प्रवृत्ति पशुओं की न्याई देखने में आती है, † वैसे *ईश्वरीयज्ञान* (=वेदों के उपदेश) के बिना सृष्टि के आदि से लेकर आज तक सब मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। जैसे इस समय किसी शास्त्र को पढ़के, किसी का उपदेश सुनके और अर्थात् सष्टि विकासक्रम में जब भी मानवप्राणी का प्रथम प्रादुर्भाव विश्व में हुआ, तब मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखकर ही सब मनुष्यों को ज्ञान होता है, ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य होता है, अन्यथा नहीं; वैसे ही सृष्टि के आदि में यदि

❀'तरुण' का अर्थ, सोलह या पच्चीस वर्ष की आयु नहीं है। इसका अर्थ है, सन्तानोत्पत्ति के सामर्थ्य—युक्त (=स्त्री तथा पुरुष)

† यथा, भारतवर्ष में कोल; भील, लम्बाड़े आदि बनवासी व अन्य आदिम जातियां। इसी प्रकार अफ्रीका महाद्वीप के मूल निवासी आज से ५० वर्ष पूर्व, पाश्चात्य जातियों व भारतीयों के सम्पर्क से पूर्व, अधार्मिक, अशिक्षित अज्ञानी, पशुओं की न्याई प्रवृत्ति रखते थे।

❀ परमेश्वर प्रोक्तज्ञान वा दैवीवाक

ईश्वरीयज्ञान का उपदेश न होता तो, आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि विषयों की यथार्थ विद्या न आती। इसके अतिरिक्त सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने—पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी और न कोई विद्या का ग्रन्थ ही था; इस लिए सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर का मनुष्यों को ज्ञान देना आवश्यक था।

इस ज्ञान के आधार पर उन आर्यों ने परस्पर मिलकर कुछ कायदे-कानून, विधि—विधान, आचार-विचार, आहार—विहार और वेश—भूषा के नियम नियत किये; 'जीवन का आदर्श, निश्चित किया; 'जीवन का दर्शन' विकसित किया। आर्यों के इस तत्व विचार का नाम 'आर्यदर्शन' है। इसे पारिभाषिक रूप में 'आर्य-सिद्धान्त-संग्रह' कहा है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में इन आर्य सिद्धान्तों का प्रचार सर्वत्र भूगोल पर था और सबकी उसी एक वेदोक्तमत में निष्ठा थी; सब एक दूसरे का सुख-दुःख, हानि लाभ, आपस में अपने समान समझते थे। तभी भूगोल में सुख था, सर्वत्र शान्ति थी। फिर वह आर्य, जनसंख्या अधिक बढ़ जाने से और एक प्रदेश में जीवन निर्वाह की असुविधा होने के कारण, चारों तरफ बिखर गये। फिर मूल से सम्बन्ध टूट जाने के कारण, धीरे-धीरे नाना सभ्यताओं तथा मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ और जिस से बहुत सा दुःख और विरोध बढ़ गया। एक ही 'आर्य—जाति' के कई टुकड़े हो गये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि—

(१) मानवजाति का आदि उत्पत्तिस्थान भारतवर्ष या *आर्यावर्त्त* है। इस देश में 'आर्य' कहीं बाहर से नहीं आये। आर्य ही यहां के मूलनिवासी हैं।

(२) मानव समाज में दिखने वाली भिन्न-भिन्न जाति उप-जातियों के मूल पुरुष *आर्य* हैं। इस 'आर्यजाति से पहले संसार में और कोई मानवसमुदाय नहीं था।

(३) सब सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की आदि जननी *'आर्य सभ्यता'* एवं *आर्य संस्कृति* है।

(४) सब मतों का आदि स्त्रोत चार वेद हैं।

(५) भूगोल पर सर्वत्र उपलब्ध सब दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल *आर्य सिद्धान्त* हैं।

भूगोल के अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में महाभारत से पूर्व तक आर्य-धर्म आर्य संस्कृति आर्य सभ्यता और आर्य दार्शनिक विचारधारा का अधिक शुद्ध रूप में यहां के सर्वविध जन जीवन पर प्रभाव था। तब यहां सर्वत्र सुख

था, धर्म-राज्य था, न्याय शासन था, सब को सर्वविध उन्नति का पूर्ण अवसर था और सब की अपनी-अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार समाज में प्रतिष्ठा थी। यहां भी फिर धीरे धीरे मत मतान्तरों का जन्म हो गया; देश में अविद्या-अज्ञान छा गया, कुरीतियां बढ़ गयीं, धार्मिक जीवन में मूढ़ विश्वास तथा पाखण्ड अधिक बढ़ गया। धर्म के विलुप्त हो जाने से 'अर्थ-काम' की मर्यादा टूट गई; धर्मानुसार अर्थ काम का सम्पादन न रहने से❀ मोक्ष प्राप्त करने (अर्थात उन्हें भोग कर उनमें त्याग) की भावना नष्ट हो गई। परिणामतः यह देश अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़ा गया और भारतवर्ष में सृष्टि के प्रारम्भ से चलने वाली आर्य-जाति निस्तेज, मन्द-मति, बलहीन हो कर परतन्त्र हो गई।

---

२. ऋषि दयानन्द अवतरण और आर्यसमाज-स्थापना

संसार और भारतवर्ष की ऐसी बिगड़ी दशा में महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव इस पवित्र आर्य भूमि के वर्त्तमान सौराष्ट्र प्रदेश के मौरवी संस्थानान्तगर्त टंकारा ग्राम में १८२४ ई० सन्० के प्रारम्भ में हुआ। विश्व और भारत देश की दयनीय विकृत दशा को देखकर उस जगदुद्धारक पतित--पावन पवित्रात्मा अमृत पुत्र ऋषि के हृदय में करुणा का संचार हुआ और उसने संसार के उपकार करने अर्थात सब की शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए पुनः एक वैज्ञानिक योजना (या कार्य-क्रम) बनायी; ताकि संसार के त्रिविध दुखों का संकट कट जावे;[1] मानव जाति की दशधा पापों[2] से विमुक्ति हो जावे और अशान्त क्षुब्ध संशकित विश्व में समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृ भाव का प्रसार होकर सब को शांति मिले।

यह दिव्य दृष्टि ऋषि को निरन्तर तप-स्वाध्याय करने के पश्चात वेदों द्वारा मिली। इस लिये उसने वेद ज्ञान के आधार पर मानव धर्म तथा मानव संस्कृति के पुनरुद्धार का कार्य प्रारम्भ किया और संसार को बताया कि वैदिक धर्म अर्थात् वेद सम्मत आर्य-सिद्धान्त ही मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति की दिशा बताने वाले

❀अर्थात् त्याग पूर्वक भोग के स्थान पर 'भोग के लिए भोग की प्रवृत्ति बढ़ जाने से
१, २, इनका लक्षण आगे किया गया है।

हैं। विश्व इन सिद्धान्तों को भूल चुका था और ईश्वरीय- ज्ञान के आधार पर प्रथम मानव संस्कृति का विकास और प्रचार करने वाली इस पावन स्थली आर्यवर्त्त में धर्म का स्वरूप वेदों का पठन-पाठन न होने से अत्यन्त विकृत हो चुका था। दया सागर ऋषि ने उस का शुद्ध रूप विश्व की जनता के सामने रक्खा और उन आर्य सिद्धान्तों के प्रचार के निमित्त प्रगतिशील जनों का संगठन बनाया। यह 'आर्यसमाज नाम से जगत में प्रसिद्ध है इसकी स्थापना एप्रिल सन् १८७५ तदनुसार चैत्र सुदी प्रथम वि० सं० १७३२ शनिवार को सर्व प्रथम बम्बई नगर में हुई।

जैसा कि पहले कहा है, आर्य-श्रेष्ठ कुलीन और सदाचारी को कहते हैं। समाज मनुष्यों के समूह और सभा संगठन को कहते हैं। आर्यसमाज का अभिप्राय है, 'ऐसा समाज या संगठन जिस का उद्देश्य स्वयं सदाचारी बनना और औरों को बनाना है!

इसके संस्थापक व प्रवर्त्तक का शुभनाम महर्षि स्वामीदयानन्द सरस्वती है, जो श्रेष्ठ कुलोत्पन्न थे, आप्त धार्मिक आस्तिक महापुरुष थे, सत्यमानी, सत्यकामी व सत्योपदेशक थे।

इनके जीवन का उद्देश्य संसार को मिथ्या ज्ञान, मिथ्या-विचार और मिथ्या- विश्वास से मुक्त करके बुद्धि और सत्य के प्रकाशमय पथ पर लाना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, इन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की और कई ग्रन्थ लिखे, जिन में मुख्य सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका और संस्कारविधि हैं। ऋग्वेद और सम्पूर्ण युजर्वेद का भाष्य संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में किया।

ऋषि दयानन्द वर्तमान युग में सब से प्रथम मुख्य और प्रभाव शाली प्रचारक हुए हैं।

वे देशकालानुसार समुचित कर्म करने वाले महामानव थे, आदर्श व यथार्थ दोनों के क्रान्तदर्शी ज्ञाता थे। इस लिए उन्होंने जिस जीवन-दर्शन का प्रचार किया, उस में भौतिकवाद और आध्यात्म दोनों का उचित स्थान है। मानव जीवन के सब पहलू 'भौतिक तथा आध्यात्म इन दो वादों के अन्तर्गत आ जाते हैं। :+:

:+: इन दो वादों के अन्य न म भी हैं 'अविद्या तथा विद्य', प्रगतिवाद तथा ईश्वरवाद संसारवाद तथा मोक्षवाद, जड़वाद तथा चेतनवाद। नयी भाषा में 'अर्थवाद तथा धर्मवाद' भी कह सकते हैं।

मानव जीवन में 'अर्थ-काम की उचित व्यवस्था एवं पूर्त्ति अर्थात सब मानवों के 'अन्न, 'वस्त्र, निवास, रक्षण, शिक्षण, प्रमोद, का मुख्यतया प्रबन्ध कर देने मात्र से मनुष्य सुखी रह सकता है और धर्म-एवं मोक्ष तो धूर्त्तों की भोली जनता को ठगने वाली मीठी बातें हैं, ऐसा चार्वाक मुनि से लेकर महान् आत्मा कार्लमार्क्स तक के भौतिकवादी मानते हैं। इस विचारधारा के अनुयायी केवल इसी जन्म को मानते हैं और "खा पी मौजकर" इस जीवन दर्शन पर चलते हैं। वे ईश्वर परलोक और धर्म ऐसी किसी चीज़ पर विश्वास नहीं रखते। वे केवल भोगविलास के जीवन अर्थात शिश्नोदरपरायणता की पूर्त्ति को ही असली जीवन समझते हैं। मानव जीवन में धर्ममोक्ष की सिद्धि कर लेना ही मनुष्य को परम सुख दे सकता है, 'अर्थ-काम तो स्वप्नवत् मिथ्या है या रज्जु में सर्प की भ्रान्ति है; 'ब्रह्मरस पीने मात्र से जनकल्याण हो सकता है, शेष सब गौण व निरर्थक है, ऐसा श्री शंकराचार्य से लेकर श्री राम कृष्ण परमहंस के शिष्यों तक का मत है। यह विचार धारा मुख्य वेदान्तियों की है। ये लोग प्रत्येक जन से अनुभूत दृश्य संसार को तो मिथ्या मानते हैं, और अदृश्य-ब्रह्म की ही चरमसत्यता स्वीकार करते हैं।

यथार्थ द्रष्टा तत्ववेत्ता योगीश्वर दयानन्द इन दोनों दृष्टि-कोणों के सन्तुलित समन्वय से जन-कल्याण अर्थात विश्व में स्थिर शान्ति और सुखकारी व्यवस्था की योजना तथा जीवन के आदर्श आचार—विचार एवं कर्तव्य कर्मों का विधान करना चाहते थे। ताकि धर्म, अर्थ काम, मोक्ष* इन चारों पुरुषार्थों के उचित मेल से मानव जीवन में पूर्णता आवे। आर्य-सिद्धान्त-संग्रह तो एक सर्वाङ्गीण क्रमबद्ध शास्त्र है; स्वयं पूर्ण जीवनदर्शन है। दुनियाँ इसको भूल एकांगी जीवन की अभ्यस्त हो रही थी! महर्षि ने आर्यसमाज का संगठन करके ऐसी दुनियाँ के सामने सर्वविध उन्नति द्वारा सुख का सत्य सरल मार्ग खोल दिया।

उपनिषदों में 'प्रेयमार्ग तथा श्रेयमार्ग या पितृयान तथा देवयान या चन्द्रलोक प्राप्ति तथा सूर्यलोक का अभिगमन' इन नामों से इन्हीं दृष्टि कोणों का विवरण है।

* धर्म अर्थ काम मोक्ष' इनका लक्षण आगे किया जावेगा।

दूसरी बात यह है कि महर्षि दयानन्द के कार्य क्षेत्र में अवतरण के समय संसार में स्वाधीन-पराधीन (अर्थात् शासक-शासित) रूप में राजनैतिक ऊँच-नीच का भाव, जात-पात के रूप में समाजिक ऊँच-नीच का भाव, मजदूर-पूंजिपति (अर्थात् संचित-वंचित वर्ग) के रूप में आर्थिक ऊँच-नीच का भेदभाव भयानक रूप से मानव जाति की उन्नति में बाधा बना हुआ था। महर्षि ने आर्यसमाज का संगठन करके सच्चे अर्थों में *वैदिक-साम्यवाद* का सत्य सरल मार्ग खोल दिया।

---

३. आर्यसमाज का स्वरूप

आर्यसमाज एक '*सार्वभौम आस्तिक धर्मसंस्थापक संघ*' है; जो सृष्टि का रचने वाली सर्वोपरि एक दिव्य चेतन शक्ति तथा सृष्टि के आदि में जनहित के लिए, उसके दिये आदि-ज्ञान को स्वीकार करता है। उस आदि-ज्ञान या दिव्य उपदेश को अपने कार्य-कलाप, कर्त्तव्य, विधि-विधान व दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार मानता है। यह 'सत्यसनातन वेदमत' (=धर्म) को मानव के अभ्युदय (=अर्थ-काम सम्पादन) का और निःश्रेयस (=मोक्ष) का साधन मानता है।

शुद्ध प्रजातन्त्र-प्रणाली के आधार पर आर्यसमाज का संगठन हुआ है क्योंकि यह जीवन के हर पहलू पर मनुष्य का पथ-प्रदर्शक है, इसलिए इसका सदस्य बनने से मनुष्य की हर प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। यह इस युग के विचारों और जीवन दिशा में आमूलचूल परिवर्त्तन लाने वाली एक निराली प्रगतिशील सर्वोत्तम परोपकारी क्रान्तिकारी संस्था है। आगे इस के मूलसिद्धान्त, मुख्य मन्तव्य, कार्य-क्रम और उसके सम्पादन की विधि का उल्लेख किया जाता है।

द्वितीय अध्याय

मानव जीवन का उद्देश्य

(धर्म, अर्थ, काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ)

सबसे प्रथम जब मनुष्य ने पानी से ऊपर उठे पर्वतखण्ड से उषा की लालिमा में प्रथम सूर्योदय देखा और फिर मानवसमाज का संगठन हुआ, तब से जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में कई प्रकार की विचारधाराएं बहती चली आ रही हैं। आर्य विचारधारा में चतुर्वर्णसाधन' इसका उद्देश्य माना गया है।

इस दृश्यादृश्यमान चराचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी कृमिकीटादि, मत्स्य-पतंग पिपीलिकादि के आवागमन का प्रयोजन (पर्थस) अपने शुभा-शुभ कर्मों के सुख-दुःखात्मक फलों को भोग कर मोक्ष प्राप्त करना अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूट-नियत-काल तक निरन्तर स्वतन्त्रता पूर्वक परमेश्वर के सुख ही सुख में विचरना है। यह जीव के मनुष्यदेह धारण करने पर ही सिद्ध होता है।

मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की सन्तुलित प्राप्ति करके आनन्द भागना है। अर्थात् धर्म भाव से अर्थ-काम रूप विषय सुख का भोग और फिर इन में काम्य बुद्धि का नाश करके स्वतन्त्रता पूर्वक मुक्ति का आनन्द ही आनन्द लूटना है।

धर्म:—सत्य-न्यायाचरण, पक्षपात रहित सर्वहित करने की भावना, जिससे सब भूतों में आत्म दर्शन और आत्मा में विश्व दर्शन हो। सामाजिक-दृष्टि से परोपकार युक्त त्यागभाव, जिस से सब एक दूसरे में धारित हों।

अर्थ:—जीवननिर्वाहार्थ धर्माचरण से पदार्थों की प्राप्ति उदर पूर्ति के लिये भोगैश्वर्य का सम्पादन तथा संग्रह करना सामाजिक-दृष्टि से सर्वोदय के लिए बनी राजनैतिक शासन व्यवस्था।

कामः——धर्म अर्थ से इन्द्रियभोगों का सेवन करना अर्थात् स्त्री- पुरुष की समस्त इन्द्रियों की परस्पर अनुरक्ति या आकर्षण की पूर्ति के लिये मर्यादित-विषयभोग का सम्पादन करना। सामाजिक-दृष्टि से सदाचार की रक्षा के निमित्त बनी विवाह व्यवस्था।

मोक्षः——सब दुःखों से छूट कर आनन्द में रहना अर्थात् धर्मानुमोदित 'अर्थ-काम' को संयम पूर्वक भोगने के बाद अपने मन व बुद्धि को उनके वासना-विष से पृथक् करके शाश्वत सुख-प्राप्ति करना सामाजिक-दृष्टि से आगामी सन्तति के लिये उन्नति का अवसर देने के निमित्त सब सांसारिक सम्बन्धों का त्याग व सामाजिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हो सर्वोदय में प्रवृत्त होना है।

यही पुरुषार्थ है, जो सब स्त्री-पुरुषों के जीवन का आदर्श है। आर्यसमाज सब को आर्य अर्थात् धार्मिक विद्वान आप्त बनाना चाहता है। सब स्त्री-पुरुषों को अर्थ-(=अन्न-वस्त्र-निवास रक्षण-शिक्षण-प्रमोद) सम्पादन तथा काम-(=स्वाभाविक विषयेच्छा परस्पर सम्मिलन का आकर्षण) तृप्ति का समान अवसर और समानाधिकार देता है और इतना देने के बाद सबको इन सब बन्धनों से पृथक हो मोक्षप्राप्ति का उपाय बताता है। कितना स्पष्ट सुसंगत और सुन्दर जीवन का आदर्श है ! यदि मानव जाति इनकी सिद्धि में प्रवृत्त हो, तो फिर संसार से असन्तोष, ईर्ष्या, वैर-कलह मतभेद मिट जावें। भूमि पर स्वर्ग उतर जावे और सब मनुष्य सर्वसाधनसम्पन्न ऐश्वर्य शाली सुखी बन जावें। सर्वत्र भूतल पर स्थिर शान्ति फैल जावे। ब्रह्मचर्य-साधना, व्यभिचार निवृत्ति, अग्निहोत्रादि यज्ञों से वृष्टि द्वारा उत्तम अन्नप्राप्ति और उसके खुले समान उपभोग द्वारा उत्तम आरोग्य लाभ करने से तथा प्रयत्नपूर्वक तन, मन, धन और आत्मा द्वारा ईश्वर के साहाय्य से पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि होती है।

❀ इन का वर्णन आगे होगा।

❀ अर्थात् जन्ममरणातीतदशा या विदेहावस्था, भवचक्रनिरोध, कर्म बन्धोच्छेदद्वारा त्रिविध दुःख से अत्यन्तविमोक्ष। इसका अभिप्राय है, जीव का प्राकृतिक बन्धनों से छूट कर ईश्वर के सुख ही सुख कल्पपर्यन्त घूमना।

इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। ※प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययन काल में *धर्मसम्पादन*, गृहस्थ अर्थात् विवाहित जीवन में धर्मानुसार *अर्थकाम का उपभोग*, वानप्रस्थ में धर्मानुसार उपभुक्त *अर्थकाम सम्बन्धी कर्मों से विमुखता* मोक्षोन्मुखता और सन्यास अर्थात् जीवन के अन्तिम भाग में कर्मफलों तथा विषयवासनाओं के त्याग द्वारा *मोक्षसम्पादन*※ कर सकता है। इसी में मानव जीवन की श्रेष्ठता, उच्चता और पूर्णता है।

———

तृतीय अध्याय

आर्य सिद्धान्तोंके मूल आधार

१. दार्शनिक आधार

(१) **जड़चेतन**—— क्योंकि सृष्टि में जड़ चेतन रूप द्विविध तत्वों का मेल दृष्टिगोचर होता है, इसलिए आर्यसमाज विश्व के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन (चर-अचर, क्षर-अक्षर, विनाशी-अविनाशी) दो वर्गों में विभक्त करता है।

जड़——अर्थात् प्रकृति। सूर्य, चन्द्र नक्षत्र, पृथिवी आदि, वृक्ष- वनस्पति आदि और प्राणियों के नाना शरीर आदि सब प्रकृति पदार्थ।

चेतन——अर्थात् 'शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त' मनुष्य पशुपक्ष्यादि प्राणीवर्ग और 'शरीर इन्द्रिय और मन से रहित' सृष्टिकर्त्ता, 'ओ३म्' जिसका मुख्य निज नाम है, ऐसा ईश्वर।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इस लिए इन में से किसी एक ही तत्व के आधार पर बना जीवनदर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन तो जीवन की अधूरी व्याख्या और संसार की उन्नति का अधूरा उपाय बतावेगा।

(२) सुख-:दुखक्योंकि सृष्टि में सुख-दुःख दोनों दिखाई देते हैं, इसलिए आर्यसमाज जीवन को सुख दुःख मिश्रित मानता है। 'सर्वं दुःखम्' अनित्यं च' केवल ऐसा संसार नहीं है। यदि सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जावे दुःखसे सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है।
इसलिए केवल-सुखवाद या केवल-दुःखवाद के आधार पर बना जीवनदर्शन पूर्ण, सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन तो जीवन की अधूरी व्याख्या और संसार की उन्नति का अधूरा उपाय बतावेगा।

(३) पाप-पुण्य—क्योंकि सृष्टि में पाप-पुण्य दोनों पाये जाते हैं; जगत् केवल-पापमय या केवल-पुण्यमय नहीं; इसलिए आर्यसमाज जीवन को पाप-पुण्य मिश्रित मानता है।

इसलिए 'जीवात्मा' को जन्मतः पापवान् या पुण्यवान मानकर बना जीवनदर्शन पूर्ण, सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन तो जीवन को अधूरी व्याख्या और संसार की उन्नति का अधूरा उपाय बतावेगा।

————

जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण

(१) प्रवृत्ति-निवृत्ति—क्योंकि 'इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न जीवन के स्वाभाविक गुण हैं अर्थात् उसकी सत्ता के लिंग हैं; इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर पुरुषार्थ में प्रवृत्त होना आवश्यक है। जीव की कर्म प्रवृत्ति सहज है। और क्योंकि '*धर्म* द्वारा '*अर्थकाम*' प्रवृत्ति होने के पश्चात् इनके परिणाम स्वरूप सांसारिक सुख दुःख के भोग से '*मोक्ष*' (अर्थात् मोचन मुक्ति छूटना—पृथक् हो सुख ही सुख में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरना) मनाव जीवन का परम-उद्देश्य है, इसलिए सष्टि में आकर, जन्म पाकर अर्थात् प्रवृत्त होकर भी इनसे निवृत्त=विरक्त होना आवश्यक है।

इस प्रकार 'जीवन की पूर्णता' के लिये 'प्रवृत्ति मार्ग' तथा 'निवृत्ति' माग दोनों का सामंजस्य है। जन्म पाना, प्रवृत्ति' का द्योतक और अभ्यास वैराग्य द्वारा निवृत्ति प्राप्त करने का साधन है। ब्रह्मचर्य आश्रम 'प्रवृत्ति' की तैय्यारी और गृहस्थाश्रम 'प्रवृत्ति' का प्रयोजक है; वानप्रस्थाश्रम 'निवृत्ति' की तैयारी और संन्यासाश्रम 'निवृत्ति' का साधनाक्षेत्र। ब्रह्मचर्य 'धर्म सम्पादन का शिक्षण

केन्द्र है; गृहस्थ धर्मानुसार 'अर्थकाम' के उपभोग की नाट्यशाला है; वानप्रस्थ सांसारिक विषयों से सर्वात्मना निवृत्ति का अभ्यास कर 'मोक्ष' का प्रवेश द्वार और संन्यास 'मोक्ष' का साधनामन्दिर है। इस प्रकार 'आर्यदर्शन' इन दोनों में समन्वय करता है।

(२) **त्याग-भोग**—सृष्टि में त्याग और भोग दोनों प्रकार के कर्म चल रहे हैं। कुछ द्रव्य, त्याग कर रहे हैं। कुछ भोग रहे हैं। मनुष्य को दोनों प्रकार के कर्म करने चाहियें। 'संसार-भोग' पाप नहीं; 'संसार त्याग' पुण्य नहीं। दोनों का समय है। जीवनचक्र में दोनों का महत्व है; सृष्टि चक्र में जीवन के डोल भरते हैं और खाली होते हैं। विवेक दोनों में मेल के विन्दु का निर्देशन करता है। सफल जीवन इन दोनों प्रकार के कर्मों की संगति है। इसी का नाम यज्ञमय जीवन बिताना है। यज्ञ का अर्थ है, देवपूजा-संगतिकरण-दान। देवपूजा अर्थात् मन, इन्द्रियों और दैवी शक्तियों का सुख के लिए सदुपयोग; संगतिकरण अर्थात् अपने को भोग और त्याग में संगत करना; दान अर्थात् भोग के लिए प्राप्त पदार्थों का बांट कर उपयोग। त्याग और भोग में कितनी सुन्दरता तथा वैज्ञानिक समन्वय है!

---

३. जीवन की पूर्णता का निर्देश

व्यक्ति और समष्टि में समन्वय रूप से है। *परहित* अर्थात् समाज की भलाई या स्वस्थ समाज निर्माण में *स्वहित* अर्थात् व्यक्ति का श्रेय या व्यक्तित्व विकास देखना ही *'अभ्युदय'* और इन दोनों से ऊपर उठ, अपने को सर्वोपरि शक्ति के सान्निध्य में रखना *'निःश्रेय- साधिगम'* है। व्यक्ति समाज के लिये अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर दे और समाज प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वविध पूर्ण विकास का अवसर दे, साधन सामग्री प्रस्तुत करे, इसी में जीवन की पूर्णता या सार्थकता है।

---

४. आर्य सिद्धान्तों के निर्णायक मूल तत्व

विचार और आस्था, तर्क और विश्वास, मेधा और श्रद्धा तथा विवेक और भक्ति दोनों हैं। किसी विषय के सम्यग्-ज्ञान या सृष्टि के यथार्थ ज्ञान के लिये

पहले तर्क, वादविवाद, सुसंगत, वैज्ञानिक पद्धति से विचार, मेधा-बुद्धि का युक्त उपयोग आवश्यक है। तर्क ही ऋषि अर्थात् मार्ग-दर्शक होता है। इस प्रकार सम्यग् ज्ञानोपलब्धि करके उस सत्य पर आचरण के लिये अडिग श्रद्धा, भक्ति, अटूट, दृढ़ विश्वास दीर्घ अखण्ड आस्था की आवश्यकता है। जब तक 'तर्क और विश्वास' या 'मेधा और श्रद्धा' में समन्वय नहीं होता, तब तक मनुष्य जीवन अपूर्ण और नीरस रहता है। केवल श्रद्धा से जीवन में जड़ता आ जाती है और मनुष्य की उन्नति के द्वार बन्द हो जाते हैं; केवल तर्क से जीवन खण्ड-खण्ड या अस्त-व्यस्त हो जाता है।

संसार में जबकि कई मतमतान्तर 'मज़हब' में 'अकल का दखल' नहीं मानते या 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' मानते हैं, आर्य समाज मतचर्चा में विवेक को व मताचरण में सहनशीलता को महत्व देता है।

जब तक कोई व्यक्ति ऊपर लिखी बातों को ध्यान में नहीं रखता, तब तक न तो वह अपने जीवन का समुचित विकास ही कर सकता है और न आर्य सिद्धान्तों की शुद्ध दार्शनिकता तथा आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता को समझ सकता है। ऋषि दयानन्द ही वह महान् दार्शनिक आप्त व्यक्ति हैं, जिन्होंने इन मूल दार्शनिक आधारों को इस युग में खोजा और इनमें समन्वय स्थापित किया। इसी कारण मानव जीवन के प्रति उस मनीषी धीर ऋषि का दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल एवं व्यापक, तथा आर्य सिद्धान्तों की उनकी व्याख्या अधिक क्रमबद्ध और सुसंगत है संक्षेप में सत्य यह है कि इन सिद्धान्तों को जीवन में घटाये बिना विश्व में स्थिर शान्ति और सर्वोदय किसी भी मूल्य पर सम्भव नहीं।

चतुर्थ अध्याय

१. सृष्टि के मूलकारण=ब्रह्म, जीव, प्रकृति

आर्य समाज की दृष्टि में सृष्टि या ब्रह्माण्ड के मूल कारण तीन हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। वह इन तीनों शक्ति तत्वों को गुण, लक्षण तथा कर्मों की भिन्नता के कारण परस्पर-भिन्न, किन्तु अनादि और अविनाशी मानता है।

जिसमें—

२. तीन कारण

प्रत्येक वस्तु को बनाने से पूर्व उसके लिये तीन कारणों की आवश्यकता होती है। उनके नाम और उनकी परिभाषा यह है :—

(१) निमित्तकारण (मुख्य व साधारण दो प्रकार के हैं)

(२) उपादान कारण।

(३) साधारण कारण।

निमित्तकारण- उसे कहते हैं जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे।

उपादान कारण—उसे कहते हैं जिसकेबिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होकर बने और बिगड़े भी।

साधारण कारण—उसे कहते हैं जो बनाने में साधन हो और साधारण निमित्त हो।

(१) मुख्य निमित्त कारण परमात्मा है, जो सब सृष्टि को कारण (प्रकृति) से बनाने, धारण और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला है।

साधारण निमित्त कारण जीव है, जो परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक-विध कार्यान्तर बनाने वाला है। इसी के लिये परमेश्वर ने सृष्टि का रचन किया है।

(२) उपादान कारण प्रकृति है, जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आप से आप न बन सकती है न बिगड़ सकती है किन्तु किसी चेतनकर्त्ता के बनाने से नियम पूर्वक बनती व बिगाड़ने से नियमपूर्वक बिगड़ती है।

(३) साधारण कारण वे उपकरण (औजार) हैं जिनसे कोई वस्तु बनाई जाती है। देश और काल भी इसमें सम्मिलित हैं।

---

३. पदार्थों के प्रकार

पदार्थ दो ही प्रकार के होते हैं :—नित्य और अनित्य।

नित्य—जिनका न आदि हो और न अन्त हो।

अनित्य—जिनका आदि भी हो और अन्त भी हो।

तीसरी प्रकार के पदार्थों का होना ही असम्भव है। जैसे 'अनादि सान्त' या 'सादि अनन्त'।

ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों नित्य पदार्थ हैं। इनका न आदि है और न अन्त है।

परन्तु जगत् स्वरूप से अनित्य है। यह उत्पन्न होकर नियत काल तक स्थित रहकर विनष्ट हो जाता है। ईश्वर में उत्पादक और विनाशक दोनों शक्तियाँ अनादि काल से (अर्थात् स्वाभाविक) हैं। इनके प्रभाव से जगत् की उत्पत्ति और विनाश अनादि काल से लगातार एक के पीछे दूसरा होता रहता है। ऐसे होते रहने को 'प्रवाह से अनादि' कहते हैं।

---

४. जगत् को उत्पन्न करने का उद्देश्य

जीवात्मा की शक्तियों के पूर्ण विकास अर्थात् किये हुये कर्मों के फल-भोग और परमानन्द (मुक्ति) की प्राप्ति के लिये जगत् का निर्माण हुआ।

अथवा

प्रकृति से परमात्मा पर्यन्त ज्ञान प्राप्त करके लाभान्वित होने के अर्थ जगत् उत्पन्न किया गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में ४ ऋषियों के द्वारा वेद ज्ञान का प्रकाश किया है।

(१) **प्रकृति**—इस स्थूल-संसार का उपादान कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री है, जो जड़ पदार्थ है और भोगने योग्य है। अर्था जीत्वात्मा का भोगायतन या जीव के शुभाशुभ कर्मों के सुख-दुःखात्मक फलों की भोगस्थली है, कर्मक्षेत्र है और परिवर्तनशील है।

(२) **जीव**—साधारण कारण, कर्त्ता, भोक्ता, चेतन पर अल्पज्ञ हैं।

(३) **ईश्वर**—निमित्त कारण, सृष्टि कर्त्ता, व्यवस्थापक, चेतन, कर्माध्यक्ष है।

तीनों स्वरूप से अनादि, अनन्त (ईश्वर के सर्वज्ञ होने से उसके ज्ञान में संख्येय) और नित्य हैं अर्थात् इन तीनों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता (स्थिति) है। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य होते हैं। प्रकृति सत्स्वरूप है, जीव सच्चित्स्वरूप है और ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है।

पंचम अध्याय

तीन अनादिपदार्थ और उनके गुण कर्म व स्वभाव

१. आदिमूल, ईश्वर=ओंकार या परब्रह्म

सब सत्यविद्या और जो पदार्थ, विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का *आदि-मूल ईश्वर* है। ब्रह्म परमात्मादि इसके नाम हैं। आर्यसमाज की दृष्टि में दृश्य-दृश्यमान प्रपंच का नियामक वह सर्वोपरि आदि प्रेरक दिव्य चेतन-शक्ति, सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है। इसके गुणकर्म स्वभाव और स्वरूप पवित्र एवं सत्य हैं। यह नित्य, अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त, आदि सत्य गुणों वाला है; यह अकारण कारण अर्थात् स्वयम्भू, अविनाशी, अपरिवर्त्तनशील अर्थात् अपरिणामी, ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ, आनन्दी, शुद्ध-बुद्ध-युक्त स्वभाव, त्रिकालातीत, न्यायकारी, दयालु तथा अजन्मा आदि स्वभाव वाला है और उसका कर्म जीवों के कल्याणार्थ जगत् की उत्पत्ति, पालन, विनाश करना तथा सब जीवों को उनके कर्मानुसार सत्य न्याय से पाप पुण्य के फल ठीक-ठीक देना है। वह सगुण, निर्गुण और निराकार है। वह दयालु, न्यायकारी, एक अकेला, निर्लिप्तद्रष्टा, सक्रिय पर स्वयं स्थिर, सर्वशक्तिमान् पर नियमानुसार सृष्टिकर्त्ता, महिमा से प्रगट अजन्मा, नितनूतन सनातन पुरुष, निर्विकार और एकरस है। जीव के जन्म मरण की बागडोर उसी के हाथ में है। वह एक ही है, अनेक नहीं।

'ओंकार, शब्द उसका सर्वोत्तम नाम है; इस एक नाम से उसके बहुत से नाम आ जाते हैं और इससे उसके असंख्य गुण कर्मों का परिचय हो जाता है। वेद, शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषदादि शास्त्रों में और गीता आदि ग्रन्थों में उसका वास्तविक नाम 'ओ३म्' ही बताया है। यों ज्ञानियों ने उस एक ही सृष्टि कर्त्ता की अनेक नामों से स्तुति, प्रार्थना, उपासना की है। परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर उसके गुणकर्म स्वभाव के अनुकूल अपने गुणकर्म स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है। यदि मनुष्य उसके एक नाम के भी अर्थ को अपने में धारण करे तो उस एक नाम के (जाप या स्मरण) से भी उसका कल्याण हो सकता है।

एकेश्वरवाद के श्रुतिसम्मत तथा युक्तियुक्त होने से अनेकेश्वरवाद की कल्पना सर्वथा व्यर्थ और अमाननीय है। ऐसे ही स्वभावतः अजन्मा होने से उसका (मनुष्य या पक्षी) किसी भी योनि में जन्म नहीं माना जा सकता है। वह अवतार न लेता है, न लेने का आवश्यकता है और न ले सकता है। जन्म अथवा अवतरण नहीं होता अर्थात् वह जीव के समान 'जन्म, बाल्य, तारुण्य, प्रौढ़ता, वार्धक्य, मरण' में नहीं आता; क्योंकि उसने जन्म या अवतरण के हेतु कोई कर्म नहीं किये तथा उसके जन्म या अवतरण की व्यवस्था करने वाला कोई नहीं। निराकार सृष्टिकर्त्ता सर्वशक्तिमान् उस परमेश्वर का भवचक्र में आना-जाना अर्थात् जन्म-मरण कभी शास्त्र या युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि इसका भाव होगा—'ईश्वर का परिमित समय के लिए देहधारी बनना।' यह तर्क विरुद्ध है; क्योंकि वह देहधारी न होता हुआ भी प्रत्येक अणु में व्यापक होने से उसमें अपनी व्यवस्थानुसार यथोचित परिवर्त्तन कर सकता है। दूसरे, यह ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्त्व और एकरसत्व आदि गुणों के विरुद्ध है।

इस प्रकार आर्य समाज की दृष्टि में वेद और युक्ति-विरुद्ध होने से मूर्ति पूजा अधर्म रूप है, निष्प्रयोजन है। यह सीढ़ी नहीं; किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिर कर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। परमेश्वर की प्राप्ति या मुक्ति की भावना से 'तीर्थ दर्शन, गंगा स्नान' आदि भी निष्प्रयोजन होने से त्याज्य हैं। ये जल स्थल में बने तीर्थ तराने वाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारने वाले हैं। इसी प्रकार कण्ठी, तिलक धारण, क्रौस, त्रिपुण्ड्र ऊर्ध्व पुण्ड्रादि धारण, मुद्राङ्कन, काबा-दर्शन ये सब ईश्वर भक्ति के या धार्मिकता के चिह्न नहीं हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि व्यक्ति उपर्युक्त गुण-कर्म-स्वभाव तथा लक्षणयुक्त ईश्वर के अवतार नहीं थे; क्योंकि वे जन्म-मरण वाले होने से राग-द्वेषयुक्त अर्थात् क्लेश कर्म विपाकाशयों में परामृष्ट थे। वे परोपकारी महात्मा उत्तम जन थे। इसी प्रकार विष्णु, बुद्ध तथा वर्धमान महावीर आदि युग पुरुष, सर्वज्ञ नहीं थे। ईसा मसीह ईश्वर के विशेष पुत्र या स्वयं भगवान् तथा हजरत मोहम्मद साहिब उसके विशेष दूत=(खास बन्दा) तथा महात्मा गान्धी उसकी विशेष विभूति आदि मान्यतायें अदार्शनिक होने से अमान्य हैं। ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य जरदुष्ट्र आदि उत्तमपुरुष अपने लोकोपकारक कर्मों के कारण आदरणीय और यथायोग्य अनुकरणीय हैं। परन्तु इनमें से किन्हीं की मूर्तियों को चेतन या ईश्वर=(सृष्टिकर्त्ता) समझ कर पूजना अविद्या है, निष्प्रयोजन है, विषम भ्रान्ति है और जन सामान्य को गुमराह करना है।

इसलिए (१) श्रेष्ठ व उत्तम होने, (२) मोक्ष सुख प्राप्ति, (३) विश्व विद्या की प्राप्ति, (४) महाकठिन कार्यों की सिद्धि और (५) कृतज्ञता प्रदर्शन के लिए वह शक्ति, जो सकल ब्रह्माण्ड का संचालन करती है; पृथ्वी पर न्याय, दया और शक्ति का प्रसार करती है; जिसकी दया व सामर्थ्य से सब जीवों (मनुष्यों व अन्य प्राणियों) के भोग के निमित्त नाना प्रकार के पदार्थ भरपूर होते हैं; सब मनुष्यों को पूर्वोक्त लक्षणयुक्त *उसी परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना* करनी चाहिये।

जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है अर्थात् जब समाधिस्थ होता है, तब उसको अपना स्वरूप और परमात्मा दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। वह किसी एक ही इन्द्रिय का विषय नहीं होता। जैसे, केवल नेत्र इन्द्रिय का विषय अर्थात् नेत्रेन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि वह 'रंगरूप से रहित है। जैसे शरीर में भूख, प्यास, दर्द आदि कोई नेत्रों से दीखने वाली वस्तु नहीं हैं; इसी प्रकार परमात्मा भी अनुभव किया जाने वाला पदार्थ है। यह सम्मिलित रूप में सर्वेन्द्रिय ग्राह्य वस्तु है।

---

२. जीव

इस सृष्टि अर्थात् दृश्यादृश्यमान प्रपंच में ईश्वर के अतिरिक्त अर्थात् ईश्वर से नितान्त भिन्न एक दूसरी चेतन अनादिसत्ता जीव है। जो सृष्टि का निर्माण नहीं करती, परन्तु ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत जिसके कर्म करने और (कृतकर्मों के फल) भोग के निमित्त इस सृष्टि का निर्माण होता है। ये अनेक हैं अर्थात् पृथक्-पृथक् हैं। मनुष्य की अल्पज्ञता की दृष्टि से इनकी संख्या अनन्त है।

जीव परिच्छिन्न, एकदेशी, अत्यन्तसूक्ष्म परिमाण वाला अविनाशी और स्वभाव से पवित्र है। यह अज नित्य शाश्वत है; कल्पसामर्थ्य वाला तथा अल्प ज्ञान वाला है। 'इच्छाद्वेष- सुखदुःख-ज्ञानप्रयत्न' इसके लिंग हैं। यह कर्मफल अर्थात् अपने किये शुभाशुभ कर्मों को सुखदुःख के रूप में अनिवार्य रूप से न न्यून न अधिक भोगता है। वह इच्छा शक्ति वाला है अर्थात् कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परमेश्वर की व्यवस्था में परतंत्र है।

प्रपंच अर्थात् ऐश्वरी सृष्टि का कर्ता ईश्वर है, जैवीसृष्टि का नहीं। ईश्वर पंचभूतात्मक जगत् बनाकर वृक्षफल औषधि अन्न आदि उत्पन्न करता है; जीव को परिवर्त्तित कर लेता है। यद्यपि जीव जगत् को नहीं बनाता, तथापि सृष्टि में

उपलब्ध पदार्थों को अपने भोग के निमित्त परिवर्त्तित कर सकता है अर्थात् मिट्टी से ईंट या रुई के वस्त्र बना सकता है; पानी में से बिजली निकाल सकता है; आम से चटनी-मुरब्बे बना सकता है।

हर एक योनि में वह स्त्री -पुरुष दोनों रूपों में प्रकट होता है। जीव न स्त्री है, न पुरुष, न नपुंसक। जीव बाल नहीं, तरुण नहीं, वृद्ध नहीं, न स्वस्थ' या 'अस्वस्थ'; न मोटा है, न पतला है, न छोटा है न बड़ा है। जिस अवस्था में होता है उसी नाम से पुकारा जाता है। यह लैंगिक या दैहिक भेद स्थूल शरीर तक ही सीमित रहता है।

जीव के स्वतंत्रता से कर्म करने में समर्थ होने और परतंत्रता से कर्मफल भोगने के निमित्त, उसके किसी 'अपूर्व देह' से संयुक्त होने का नाम जन्म और जिस स्थूल शरीर को प्राप्त करके वह क्रिया करता है, उस 'वर्त्तमान देह' से वियुक्त होने का नाम मृत्यु है। जीव स्वरूप से न कभी ऐसा मरता है और न कभी उत्पन्न होता है। अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं रहा है और न ऐसा समय कभी होगा जब जब जीव नहीं रहेगा। वह नित्य सत्पदार्थ है। जन्म-मरण तो उसके शरीर में प्रवेश और शरीर का त्याग का नाम है।

मानव योनि में आकर वह युक्ति और ज्ञान सहित पुरुषार्थ करके अपने लिए अनुकुल (अच्छी, शभ) व अज्ञान-पूर्वक आचरण से प्रतिकूल (बुरी, अशुभ) परिस्थिति बनाता है वह स्वभावतः पापवान् (=सहजपापात्मा, जन्मपापः) या स्वभावतः पुण्यवान नहीं है। जन्मते समय पूर्वजन्मकृत शभाशुभकर्मों के अनुसार पापवासनायुक्त होता है।

————

३. प्रकृति

इस दृश्यादृश्यमान प्रपंच (जड़जगत् अर्थात् सूर्य-चन्द्र भूमि नक्षत्रादि, वृक्ष वनस्पति और और पिपीलिका से लेकर मनुष्य हस्तिपर्यन्त प्राणियों के शरीरों) का मूल उपादान कारण प्रकृति है; जो अनदि है, अजा है। परन्तु इसका रूप बदलता रहता है। यह सूक्ष्म अनादि नित्य और परमाणुरूप है। ये परमाणु जड़, उत्पत्ति-विनाश रहित, निरवयव और नित्य हैं, नाना और असंख्यात् हैं। इनके परिणाम अर्थात पारस्परिक संयोग-विभाग के द्वारा पृथिवी–

जल अग्नि-वायु आदि पंचभत उत्पन्न होते हैं. जीवों के शरीर फिर इन भूतों से निर्मित होते हैं।

यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व (शुद्धता, तेज, प्रकाश , रज (मध्य गति, तरलता) और (जड़ता, घनता, स्थिति, स्थूलता) इन तीन गुणों का संघात है। सूक्ष्म होने से इन्द्रियगोचर नहीं। इसलिये अव्यक्त और अदृश्य है। पृथिवी आदि पाँच स्थूल रूपों द्वारा व्यक्त (=दृश्यमान रूप को प्राप्त) हो जाती है। इसके क्रम-विकास का अन्तिम परिणाम यह स्थूल सृष्टि है।

पूर्ववर्णित 'ओंकार' नामक सर्वोपरि चेतन दिव्यशक्ति इसकी नियामक है, जो इस प्रकृति के परमाणुओं से संयोग- वियोग करके'सर्ग-स्थिति-लय' का नियमित चक्र चलाती है।

षष्ठ अध्याय

१. सृष्टि का रहस्य या विश्व की पहेली

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इसलिए किसी एक तत्व जड़ या एक तत्व चेतन से 'विश्व की पहेली' बूझना तर्क विरुद्ध, अवैज्ञानिक और कार्य कारण के सर्वमान्य नियम का तिरस्कार है। और इसीलिए एक तत्व के आधार पर 'विश्व की सब समस्याओं का पूर्ण, सुसंगत एवं वैज्ञानिक' समाधान नहीं हो सकता। किसी एक को भी निकाल दें, तो यह विशाल ब्रह्माण्ड कभी न बन सके।

सृष्टि की रचना देखने से, 'जीव-आत्मा' में जगत् बनाने और जड़-प्रकृति में अपने आप यथायोग बीजादि स्वरूप बनने का समार्थ्य न होने से, सृष्टि का कर्त्ता कोई परम-आत्मा या ईश्वर' अवश्य है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। जगत् का कर्ता न मानना और जगत् को स्वयंसिद्ध कहना युक्तियुक्त नहीं और कार्य कारण के नियम की अवहेलना है। क्या बिना कर्त्ता के कोई कर्म और कर्म के बिना कोई काय, जगत् में होता हुआ दीखता है?

सृष्टि की रचना देखने से और जड़ पदार्थों में स्वयमेव यथायोग्य भोक्ता होने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि कर्त्ता के भी स्वयं भोक्त न होने से सृष्टि का भोक्ता कोई जीव है, जिसके निमित्त से सृष्टि का निर्माण होता है; ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।

सृष्टि की रचना देखने से और चेतन शक्ति के जड़-जगत् रूप में परिवर्त्तित होने का सामर्थ्य न होने से, इसका कोई उपादान-कारण, जिसे प्रकृति कहते हैं; स्पष्ट सिद्ध होता है।

यदि सृष्टि से पूर्व सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के बिना अन्य कोई भी वस्तु न होती, तो वह सृष्टि क्यों बनाता, कहाँ से या किससे बनाता और किसके लिए बनाता?

यदि सृष्टि से पूर्व 'आत्मा' (जैनियों का जीव) के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न होती, तो इसे कौन बनाता, किसे बनाता?

यदि सृष्टि से पूर्व उपादान-कारण प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न होती, तो यह सृष्टि क्यों बनती, किसके द्वारा बनती और किसके लिए बनती?

यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है; दोनों स्पष्टतया भिन्न इसमें दृष्टि-गोचर होते हैं। इसलिए यह पसारा किसी एक तत्व जड़ का या चेतन का रूपान्तर नहीं हो सकता।

यह सृष्टि 'कार्य' है। कार्य बिना 'कर्त्ता' के हो नहीं सकता। क्योंकि जीव इस सृष्टि रूपी कार्य को नहीं बना सकता, इसलिए जीव से भिन्न 'क्लेशकर्म विपाकाशय से अपरामृष्ट' और 'ज्ञान की अतिशयता वाला' ईश्वर उसका कर्त्ता है। कोई भी कर्त्ता बिना किसी साधन अर्थात् उपादान सामग्री के कार्य नहीं बना सकता अर्थात् प्रत्येक 'कार्य' का 'कारण' होना चाहिये। यह कारण प्रकृति है। कोई ऐसा भी होना चाहिये, जिसके निमित्त या प्रयोजन के लिये यह सृष्टि हो; वह जीव है। सृष्टि को देखकर इन तीनों की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

———

२. सृष्टि-प्रलय का चक्र

ईश्वर का कर्म सृष्टि करना है; प्रकृति का कार्य सृष्टिरूप में परिवर्त्तित होना है और जीव का धर्म सृष्टि में आ कर्म और भोग करना है। 'सृष्टि का होना' 'सृष्टि का करना' और 'सृष्टि का भोगना' ये तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुये भी निरपेक्ष हैं। 'क्योंकि यह संसार है इस लिए जीव शुभाशुभ कर्म करके सुख-दुःखात्मक फल भोगता है। यदि संसार (आवागमन का चक्र या जन्म-मरण) न हो, तो जीव को न दुःख भोगना पड़े और न कर्म करना पड़े। इसी प्रकार जब जीव कर्म न करे, तो संसार बनने का हेतु न रहे और फिर परमेश्वर संसार को भी न बनावे।' इस प्रकार का युक्तिक्रम अदार्शनिक और अनुभव विरुद्ध है। ये एक दूसरे के आश्रित (या सम्बद्ध) तो दीखते हैं; परन्तु एक दूसरे के हेतु या कारण भूत या एक दूसरे की अपेक्षा से नहीं होते। ये तो सहज होते हैं। ईश्वर का *'सृष्टि करना'* सहज कर्म है; प्रकृति का स्वभाव ही विकृत हो *'सृष्टि रूप होना'* है और जीव के इच्छा-ज्ञान-प्रयत्नशील होने से उसका *'सृष्टि में आवागमन'* होता ही रहेगा। ईश्वर सृष्टि करता है, प्रकृति सृष्टि रूप में परिणत होती ही रहती है और जीव कर्म करता और फल भोगता ही रहेगा।

इसलिये 'सृष्टि प्रलय का चक्र' न कभी शुरू हुआ, न कभी समाप्त होगा। सृष्टि प्रलय का यह चक्र दिन रात की तरह अनादि और अनन्त है। परन्तु सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक प्रसिद्ध दिवस की तरह यह वर्त्तमान सृष्टि सादी और सान्त है। अर्थात् जैसे दिन पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन का प्रवाह बराबर चलता आता है; इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि का चक्रप्रवाह अनादिकाल से चला आता है। इस प्रकार 'सृष्टि प्रलय चक्र' का आदि अन्त नहीं परन्तु वर्त्तमान सृष्टि को बने लगभग १ अरब ६७ कोटि वर्ष के हुए हैं। इसे पंचाङ्गों में आर्यस्संवत् कहा जाता है। वर्त्तमान युग के वैज्ञानिक भी सृष्टि की आयु लगभग इतनी ही मानते हैं।

इस ब्रह्माण्ड की रचना व इसकी अवयव भूत सभी वस्तुयें, सूर्यचन्द्र पृथिवी ग्रह नक्षत्रादि, नियम से चलते हैं। संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसे जादू और ऐसी कोई घटना नहीं, जिसे मोज़जा या चमत्कार कह सकें। सब घटनायें सृष्टि नियमों के अनुकूल ही होती हैं। ये सृष्टि नियम कभी बदलते नहीं; सदा एक से रहते हैं। ब्रह्माण्ड में होने वाली घटनायें 'कार्य-कारणभाव' से घटित होती हैं। इस कार्यकारण के सम्बन्ध को ठीक न जानने वालों को ही ये जादू या लीला प्रतीत होती हैं।

आवागमन

आवागमन आवागमन का अर्थ है, आना-जाना अर्थात् इस सृष्टि में बार-बार जन्म लेना। आर्य-विचार-शृङ्खला में यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्व का है। आर्य दर्शन को जो सर्वोच्च स्थान विश्व के दर्शनों में प्राप्त है, उसका मुख्य कारण यह 'आवागमन का सिद्धान्त' भी है। मनुष्य का यही जन्म आदिम या अन्तिम नहीं है। मनुष्य क्या है? दृश्यमान शरीर, जिसका कारण प्रकृति है, वह जड़ है और भोगका आधार है। इसके अन्दर एक और शक्तितत्व है, जिसे 'जीव' कहते हैं। इन दोनों के मेल का नाम पुरुष है।

यह देह बदलती रहती है। इसके अन्दर का आत्मा 'अवध्य, अज, नित्य, शाश्वत' है। अविनाशी आत्मा के इस पुनः पुनः देहपरिवर्तन का नाम *'पुनर्जन्म'* है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा अपने कर्मों के फलभोग के निमित्त नाना जन्म लेता अर्थात् अनेक योनियों में आता-जाता रहता है। यह 'कुदरत की लहर' नहीं। जन्म-जन्मान्तर में आवागमन के हेतु जीव के अपने कर्म ही हैं।

इस संसार में सुखी–दुःखी, धनी–निर्धन, निर्बल-सबल और विद्वान्-मूर्ख रूप से दृष्टिगोचर होने होने वाले वैषम्य का कारण जीवों के भिन्न भिन्न कर्म ही है; ईश्वर की निरंकुश-इच्छा नहीं।*

* जिसे भूल से ईसाई और मुसलमान विद्वान् 'ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता' का लक्षण समझते हैं।

कर्म-सिद्धान्त

बिना कर्म किये कोई भी प्राणी एक क्षण जीवित नहीं रह सकता। कुछ प्राणी (पशुपक्षी कृमिकीट आदि) बन्धन में पड़े से परतन्त्रता से जीवन व्यवहार=(कर्म) करते प्रतीत होते हैं अर्थात् प्रकृति को जैसे का तैसा भोग रहे हैं। परन्तु मनुष्य उन्मुक्त-सा स्वतन्त्रता से, बुद्धि पूर्वक-कर्म करता प्रतीत होता है अर्थात् वह प्रकृति को जैसे का तैसा भोगने के अतिरिक्त अपनी सुखसुविधा के लिए उसको नया रंगरूप दे अपने अनुकूल बना सकता है और अपने आगामी-जन्म को उत्तम या निकृष्ट बनाने का स्वतन्त्र अवसर रखता है। यही वह मूल परमाणु है, जिसके आधार पर 'कर्म-सिद्धान्त' स्थिर हुआ है।

दूसरे, इन्द्रियों के कुछ सहज कर्म हैं। जैसे आँख का झपकना, सुनाई पड़ना, स्वाद आना आदि आदि। कर्मसिद्धान्त में, इनका विचार नहीं; परन्तु इन्द्रियों के एक इरादे विशेष से किये गये कर्मों और उनके फलों के भोग की ही विवेचना होती है।

जीव को, जैसा वह कर्म करता है, वैसा फल अर्थात् उसके शुभाशुभ कर्म का सुखदुःखात्मक फल न न्यून, न अधिक अवश्य भोगना पड़ता है। न ईश्वर पापों को क्षमा करता है और न कोई मध्यमवर्त्ती पापों को क्षमा करवा सकता है। अथवा इसके लिए सिफारिश करता है। साधु सन्तों का संग, उत्तमाचरण और ईश्वर-पजा से पाप की वासनाओं का क्षय अवश्य हो जाता है।

कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते, क्योंकि वे जड़ हैं। अपने कर्म के, इच्छा-नुसार फल के स्वयं निर्णय का अधिकार जीव को नहीं। ऐसा हो, तो संसार में पाप-अधर्म-अन्याय-अत्याचार बढ़ जावें। क्योंकि, कोई भी मनुष्य अपने कर्म का बुरा फल नहीं चाहेगा। पाप और पुण्य में अदलाबदली भी नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि 'पापकर्म' करने के बाद यदि कोई 'पुण्यकर्म' किया जावे, तो पर्वकृत 'पापकर्म' का फल कट जावे ऐसा नहीं होता। दोनों कर्मों का फल पृथक् पृथक् अवश्य भोगना पड़ता है। यह भी ध्यान रहे कि एक के किये पाप-पुण्य किसी अन्य

का नहीं प्राप्त हो सकते; किन्तु कर्त्ता ही अपने शुभाशुभ कर्म का फल स्वयं भोगता है।

पूर्वजन्म कृत कर्मों में से जिन कर्मों के सुखदुःख रूप फल वर्त्तमान देह के द्वारा भोगना प्रारम्भ होता है, अर्थात् जिन कृतकर्मों को भोगने के लिए यह शरीर प्रारम्भ हुआ है, वे कर्म; *प्रारब्ध*, वर्त्तमान जन्म में फलापेक्षा से किये जाते कर्मों का नाम *क्रियामाण* और जिनका फल भोगना शेष रहा है, वे *संचित* कर्म कहाते हैं तथा जो क्रियमाणकर्म की छाप मनुष्य के आत्मा या अन्तःकरण में जमा होती है, उसको *वासना* या संस्कार कहते हैं।

कर्मफल *जाति*, *आयु* और *भोग* रूप में प्राप्त होता है। पुरुषार्थी मनुष्य आयु तथा भोग में किंचित्परिवर्त्तन भी कर सकता है *पुरुषार्थ* प्रारब्ध से बड़ा है; क्योंकि इससे संचितकर्म और प्रारब्ध कर्म बनते हैं। अर्थात् इसके सुधरने से सब सुधरते और बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं।

कर्म का फल नियत होने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं होता और जीव अपने अपने कर्मानुसार दण्ड व प्रतिष्ठा सदा पाते रहते हैं। प्रलयावस्था को छोड़ कर, न किसी क्षण जीव अकर्मकृत् रहता है और न अभोगवित्।

प्रत्येक कर्म का दो प्रकार का फल होता है, *कार्यरूप* और *उद्दिष्टरूप*। जैसे हल चलाने का कार्य रूप फल है, बीज पड़ने योग्य भूमि का खुद जाना और उद्दिष्ट फल है, कालान्तर में धान्य प्राप्ति। पठन कर्म का कार्य रूप फल है, ग्रन्थ समाप्ति ग्रन्थ बोध; उद्दिष्टफल है, परीक्षा में उत्तीर्ण होना व ज्ञान वृद्धि। यह उद्दिष्टफल जीव के अधीन नहीं।

परन्तु प्रत्येक कर्म का उद्दिष्टफल तत्काल या इसी जन्म में मिले, ऐसा नियम नहीं। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता, उनके फलों के भोग के लिए ही 'देहान्तर प्राप्ति' है। और 'धीरस्तत्र न मुह्यति'। अगर पुनर्जन्म न मानें, तो कर्मव्यवस्था अर्थात् परमेश्वर के न्याय और सत्य नियम के भंग हो जाने और कर्म सिद्धान्त (कर्म और फल का चक्र) न मानें, तो संसार में उपलब्ध विषमता का युक्ति तर्क संगत समाधान भी न बने। त्रैतवाद, आवागमन और कर्म-सिद्धान्त मानने पर ही *'प्रपंच रहस्य की गुत्थी'* खुलती है या *'विश्व की पहेली'* बूझी जाती है। विज्ञान, कार्य-कारण और कर्त्तृ कर्म का नियम तो माने और इन तीन सिद्धान्तों से इन्कार करे, यह अयुक्तियुक्त अनुभव विरुद्ध और अदार्शनिक है। यह तो विज्ञान की अवैज्ञानिकता ही होगी।

नवम अध्याय

१ ज्ञान का आदिस्त्रो

यह पहले ही लिख चुके हैं कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न मनुष्यों को परमेश्वर ने ज्ञान दिया। जो, परमेश्वर अपनी वेद विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिए न करता, तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती और उसके बिना परम आनन्द भी किसी को न होता। जैसे उस परम कृपालु परमेश्वर ने प्रजा के=(सब जीवों के) सुख के लिए कन्दमूल फल और घास आदि छोटे-छोटे पदार्थ रचे हैं, वैसे ही सब सुखों का प्रकाश करने वाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेद विद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिए, वह सृष्टि के प्रारम्भ में क्यों न करता? जैसे, आँख देकर सूर्य न देता, तो व्यर्थ होता; वैसे ही बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियां देकर यदि ज्ञान न देता, तो कोई भी (मनुष्य योनि में आया) जीव अपना अच्छा बुरा न जान सकता, अपनी उन्नति न कर सकता।

इनका ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में अयोनिज सृष्टि में जन्म लेने वाले उन चार पवित्रात्मा ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया, जो सबसे श्रेष्ठ आप्त विद्वान् और धर्मात्मा थे तथा इस ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता=(सामर्थ्य व अधिकार रखते थे।

ऋषियों के नाम ये हैं:—अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा। ये देहधारी मनुष्य थे और सब जीवों से अधिक पवित्र-आत्मा थे। यह पवित्रता उन्होंने पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मों से प्राप्त की थी।

अग्निऋषि को ऋग्वेद; वायुऋषि को यजुर्वेद;
आदित्य ऋषि को सामवेद, अंगिराऋषि को अथर्ववेद।

इन चार ऋषियों ने वेदों के ज्ञान का अन्य ऋषियों और मनुष्यों को उपदेश दिया। आर्य समाज 'ऋग्-यजु-साम-अथर्व' नाम से प्रसिद्ध सत्यविद्या धर्मयुक्त वेदचतुष्टय अर्थात्, संहिता मात्र मंत्रभाग को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता है। इनके प्रमाण में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। सूर्य व प्रदीप के स्वरूपतः प्रकाश व अन्य पृथिवी आदि पदार्थों के प्रकाशक होने की तरह, वेद स्वयं प्रमाण स्वरूप हैं।

२ वेदों के चार विभाग का कारण

(१) ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने की प्रवृत्ति हो सके।

(२). यजुर्वेद में गुण ज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छे प्रकार से हित सिद्ध हो सके, इस विद्या को जनाया है।

(३) सामवेद में ज्ञान, कर्म और उपासना कांड की वृद्धि का फल कितना और कहां तक होना चाहिए इसका विधान किया।

(४) अथर्ववेद—तीन वेदों में जो-जो विद्या है उन सब के शेष भाग की पर्ति, विधान, रक्षा और संशय निवृत्ति के लिए है।

---

३ वेद ही अपौरुषेय क्यों ?

(१) उनमें प्रतिपादित सब सिद्धान्त सार्वजनिक और सार्वकालिक हैं। वे किसी देशकाल-विशेष में मानव जाति के निमित्त प्रकाशित नहीं किये गये।

(२) मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के द्योतक हैं।

(३) इनमें वर्णित कोई भी सिद्धान्त, बुद्धि, विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं। ये पक्षपात शून्य, भ्रान्तिरहितज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

(४) इनमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्त और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कोई कथन नहीं।

(५) इनमें ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल ही वर्णन हैं।

(६) सृष्टि के प्रारम्भ से लेके आज तक ब्रह्मा, मनु, जैमिनी शंकराचार्य दयानन्द आदि जितने भी आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य, सर्व सत्य-विद्यामय और स्वतः प्रमाण मानते आये हैं।

यदि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ज्ञान न देता तो मानव जाति को ज्ञान न होता और न धारारूप में ज्ञान आगे बढ़ता। यदि पीछे ज्ञान देता, तो पूर्वसृष्टि उसके लाभ से वंचित रहती। बीच बीच में ईश्वर को अपने ज्ञान देने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि उस सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान पूर्ण है और उसकी बात सदा एक सी और बेभूल होती है। दूसरे, ज्ञान परम्परा से चलता है और जीव एक

बार सीख कर उससे अपनी बुद्धि का स्वतन्त्र विकास करता है। जब तक हमें कोई सिखाने वाला न हो, तब तक हम लिखपढ़, सीख समझ नहीं सकते। सर्गारम्भ में सर्वज्ञ ईश्वर के सिवा, कौन मनुष्यों को ज्ञान दे सकता है? सर्ग मध्य में तो आप्त पुरुष ज्ञान प्रसार कर सकते हैं।

सबसे अधिक प्रामाणिक, सत्यार्थ युक्त और मानने योग्य मानव जाति के धर्मशास्त्र और विद्यापुस्तक, ये चार वेद ही हैं। इनसे विरुद्ध वचन चाहे किसी पुस्तक में पाये जावें, वे मानने योग्य नहीं हो सकते। इनका विश्व भर में प्रचार चाहिए और इनकी शिक्षाओं पर आचरण करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। क्योंकि ये वेद ही सबको 'मानवता का संदेशा या 'विश्व-धर्म का उपदेश देते हैं। ये किसी व्यक्ति विशेष की कामनाओं की पूर्ति करने की आज्ञायें मात्र नहीं। ये किसी देश या जाति के किसी काल विशेष के इतिहास ग्रन्थ नहीं। इन में उस सार्वभौम नीति व सत्य धर्म का प्रतिपादन है, जिनसे सब देश कालों के मनुष्य समान रूप से लाभ उठा सकते हैं।

एतद्भिन्न विश्व साहित्य, भारतवर्ष में रचित आर्ष अथवा आप्तोपदिष्ट तथा अन्यत्र विश्व में साधु सन्त विद्वान् धार्मिकजन रचित, आर्य-परम्परानुसार पौरुषेय होने से परतः प्रमाण है। आर्यसमाज, इनको यथायोग्य आदर की दृष्टि से देखता हुआ उनमें निदिष्ट तर्क और अनुभव द्वारा प्रतिष्ठित विज्ञान सिद्ध एवं वेदानुकूल अंश को ही प्रमाणिक=(स्वीकार योग्य व ग्राह्य) मानता है। विज्ञान सिद्ध और तर्क प्रतिष्ठित प्रत्येक सत्य विषय को यथार्थ स्वीकारता है। चाहे वह किसी ने किसी भी समय में किसी भी देश या परिस्थिति में क्यों न कहा हो?

पहले संसार में सर्वत्र वेदमत (अर्थात् श्रुति प्रतिपादित धर्म) ही था। इसी आधार पर मानव जाति के आदिम आर्य-ऋषि मुनियों ने '*आर्यदर्शन*' का विकास किया था तथा जीवन के सकलभद्र=(अभ्युदय+निःश्रेयस) के लिए सर्वतः पर्ण '*आर्यसंस्कृति*' की कल्पना की थी।

दशम अध्याय

विद्या और शिक्षा

आर्य समाज, अविद्या का नाश और विद्या की अभिवृद्धि करने में स्त्री-पुरुष व रंग का भेद किये बिना सदा तत्पर रहता है। सह-शिक्षा को मानव समाज के लिये अहितकर समझता है, विद्याविधान में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली अर्थात् विद्यार्थियों को परिवार व नगर के वातावरण से दूर रख रमणीक आश्रमों में विद्याभ्यास को प्रमुखता देता है।

विद्या का उद्देश्य केवल आजीविका सम्पादन न मान, आत्मविकास द्वारा उत्तम नागरिक=(दिव्यजन, वैश्वानर) बनाना मानता है। अर्थात् प्रत्येक विद्यार्थी को उत्तम समाज सेवक बनाना चाहता है।

मानव संस्कृति की मूलस्रोत और संसार की सब भाषाओं की जननी वैदिक-भाषा=(संस्कृत भाषा) के पढ़ने की ओर प्रत्येक मनुष्य को और आर्यसमाज के सभासदों को विशेषतः मातृभाषा व राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त *हिन्दी और संस्कृत* के पढ़ने की प्रेरणा करता है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करके व्यक्ति का सर्वविध पूर्ण विकास करना है। आर्यसमाज प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत करना चाहता है। शाश्वत सुख प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास परमावश्यक है। जीवन को उच्च एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरं' बनाने और जीवन में सदाचार, सरलता, सादगी एवं सौन्दर्य व (माधुर्य) लाने वाले कार्यों को सदा प्रोत्साहित करता है। विज्ञान एवं कला का उपासक है।

सब मनुष्यों का विद्वान् होना सम्भव नहीं। परन्तु विद्वानों के संग और आत्मा की पवित्रता एवं अविरुद्धता से धर्मात्मा चरित्रवान् प्रत्येक मनुष्य हो सकता है। विद्या का यही फल है कि मनुष्य का अवश्य धार्मिक होना। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जान के=(सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके) भी, वैसा न किया और (किसी विषय या पदार्थ को) बुरा जानकर भी बुरा करना न छोड़ा, वह चोर के समान है; जोकि चोरी को बुरा जानता हुआ भी नहीं छोड़ता।

जो मनुष्य विद्या कम ही जानता हो, परन्तु दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर, धार्मिक होके, खाने-पीने बोलने-सुनने उठने-बैठने लेने-देने आदि सब व्यवहार सत्य-धर्म से युक्त प्रीति पूर्वक यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं करता। परन्तु जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के भी उत्तम-व्यवहारों को छोड़कर दुष्टकर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

एकादश अध्याय

१ उन्नति के लिये व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन

आर्यसमाज मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए उसका 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' और जिस समाज में यह रहता है, उसकी 'चतुर्मुखी उन्नति' का मार्ग बताता है। 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् शारीरिक आत्मिक उन्नति के लिये आसन, प्राणायामादि योग पद्धति का प्रचार, मांस शराब मादक द्रव्य सिगरेट आदि पान का तीव्र निषेध करता है; ब्रह्मचर्य पालन में अधिक जोर देता है और 'पंचमहायज्ञ' रूपी दैनिक प्रोग्राम तथा 'षोडश-संस्कार' रूपी जीवनव्यापी प्रोग्राम निर्धारित करता है। इनका संक्षिप्त वर्णन क्रमशः आगे दिया जाता है।

----

२. पंचमहायज्ञ=दैनिकाभ्युदय-योजना

(१) **ब्रह्मयज्ञ**—योगाभ्यास, आत्मचिन्तन, ईश्वरोपासना (सन्ध्यावन्दन) और वेदस्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण शुद्धि। इससे विद्या, शिक्षा, धर्म शिष्टाचार आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती है।

(२) **देवयज्ञ**—आसन प्राणायामादि द्वारा अपनी सब इन्द्रियों को स्वस्थ सुदृढ़ बनाना। अग्निहोत्र द्वारा वायु-शुद्धि करके गृहों को स्वास्थ्यकर रखना,

अर्थात्, शारीरिक उन्नति। इससे आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, के अनुष्ठान की योग्यता और सामर्थ्य बढ़ाना होता है।

(३) **पितृयज्ञ**—जीवित माता-पिता वृद्ध कुटुम्बियों की अन्न-पान, वस्त्र रक्षण द्वारा सेवा करना। इससे ज्ञान सदाचार और कृतज्ञता भाव की वृद्धि होती है।

(४) **अतिथियज्ञ**—धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, साधु-संन्यासियों के अन्न, वस्त्र, निवास, रक्षण की समुचित व्यवस्था करना। इससे पाखण्ड विनाश, सत्यविज्ञान की प्राप्ति और धर्म प्रचार होता है।

(५) **बलिवैश्वदेवयज्ञ**—चींटी, गाय, कुत्ता आदि जीव-जन्तुओं तथा निर्धन निःसहाय निराश्रित जनों का यथायोग्य पालन-पोषण करना। इससे प्राणिमात्र में समदृष्टि और परोपकार भावना की वृद्धि होती है।

व्यक्ति अपनी उन्नति करता हुआ समाज के साथ कैसे बरते, इसका उपाय भी पंचमहायज्ञविधि है। इसमें स्वार्थ और परार्थ का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। प्रथम दो यज्ञ व्यक्ति के शारीरिक-मानसिक (बौद्धिक, आत्मिक) उन्नति के साधक हैं; शेष तीन सामाजिक हित के लिये त्याग भाव सिखाते हैं। अपने भोग से पूर्व जिन्होंने जन्म दिया, पाला पोसा, उनकी सेवा; जिन्हों ने विद्यादान दिया, सदाचार सिखाया, उनकी सेवा और उनके अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में जो जीव धारी हमारा उपकार करते हैं; उन शेष प्राणिमात्र की सेवा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

प्रत्येक गृहस्थ स्त्री-पुरुष को ये पांच प्रकार के उपकारी श्रेष्ठतम कर्म प्रतिदिन अवश्य करने चाहियें। जीव-हिंसा नहीं करनी चाहिये। खाने के निमित्त हो या यज्ञरूपक पूजादि कर्म के निमित्त हो और या मतविषयक कार्यकलाप के निमित्त हो; किसी प्रकार के गोवध अथवा अन्य पशुवध का आर्यसमाज प्रबल विरोधी है।

प्रत्येक राज्य के लिये भी इनका करना आवश्यक है।

प्रजा के लाभ के लिये विद्याप्रचार के निमित्त प्राचीन व अर्वाचीन अनेक विद्याओं के उत्तम शिक्षणालय व ग्रन्थागार स्थापित करना तथा ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में शोध व अन्वेषण कराना *ब्रह्मयज्ञ* है।

प्रजा के क्षेम के लिये, उत्तम अन्नोत्पादन करना कराना, कृषि व जलवृष्टि के उपाय करना, वृक्ष लतादि संवर्धन, स्वास्थ्य रक्षण व रोगनिवारणार्थ उत्तम औषधालय तथा चिकित्सालय स्थापित करना *देवयज्ञ* है।

प्रजा के हित के लिये वैज्ञानिकों (साइण्टिस्ट) अन्वेषकों (रिसर्च स्कालर्स), कुशल एक्सपर्टस) व निपुण (स्पैश्यलिस्ट्स) विद्वानों को प्रोत्साहन व उनके योगक्षेम (=रोटी कपड़े) का समुचित प्रबन्ध करना *पितृयज्ञ* है।

प्रजा के कल्याण के लिये, उन निष्काम स्वयंसेवकों तथा परोपकारी जनों (जो कि राष्ट्र में धर्म एवं सदाचार का प्रचार करते हैं) के लिये कार्यकरणार्थ सुविधायें देना तथा उनका पालन पोषण करना *अतिथियज्ञ* है।

प्रजा के सुख के लिये, निराश्रित, असहाय, दीन हीन जन की रक्षा और उपकारी जानवरों का संरक्षण, संवर्धन व संशोधन करना, ताकि पशुधन की वृद्धि होकर राष्ट्र में कोई भी भूखा न रहे—*बलिवैश्वदेवयज्ञ* है।

———

३. संस्कार=शतवर्षीय योजना

प्राचीन आर्य ऋषि-मुनियों ने जीवन की हर एक दिशा में सुनियोजित व्यवस्था की थी। समस्त जीवन भर मनुष्य क्रम से उन्नति करता जाये—जन्म से मरण पर्यन्त वह विकसता जाये—इसके लिये उन्होंने संस्कार पद्धति की योजना बनाई। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार हैं, जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में फैले हुए हैं। इनका उद्देश्य गर्भ समय से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य शरीर, मन और आत्मा को बलवान् बनाना तथा उन पर उत्तम संस्कार डालना है। संस्कारों द्वारा शरीर और मन सुसंस्कृत होने से 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' का अनुष्ठान सरलता से हो सकता है। इसलिए संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान स्त्री-पुरुष भेद के बिना सबको करना उचित है।

(क) *जन्म से पूर्व तीन संस्कार किये जाते हैं।*

पहला—गर्भाधान:—जिससे पति-पत्नी प्रथमबार सन्तानोत्पत्ति की कामना करते हुए यज्ञ में उपस्थित सभ्य पुरुषों के सामने यह संकल्प करते हैं कि हम "धार्मिक वैश्वानर सन्तान (विश्वजन, वर्ल्डसिटिजन, विश्वनागरिक) उत्पन्न

करेंगे। प्रथमबार ऋतुमती होने के न्यून से न्यून तीन वर्ष बाद कन्या और जब पच्चीस वर्ष का (अर्थात् पूर्ण स्वस्थ एवं आजीविका सम्पादन में समर्थ होने पर ही) पुरुष हो तभी यह संस्कार करना चाहिये। अन्यथा गर्भ स्थापित न होगा, यदि हुआ तो क्षीण हो जावेगा, यदि क्षीण भी न हुआ, तो सन्तान निर्बल अल्पायु और संस्कार विहीन होगी।

दूसरा—पुंसवन :—गर्भ की स्थिति का सम्यग् ज्ञान हो जाने अर्थात् गर्भ ज्ञान के दूसरे, तीसरे व चौथे मास में गर्भरक्षा, पुरुषत्व अर्थात् वीर्यशक्ति लाभ तथा स्त्री की मानसिक शक्ति बढ़ाते हुए उसे उत्साहित=प्रसन्न करने के लिये, यह संस्कार किया जाता है। स्त्री-पुरुष यज्ञ द्वारा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अब से ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे, जिससे गर्भ गिरने का भय हो और साथ ही गर्भ स्थित रहे, वीर्य स्थिर रहे और आगामी सन्तान हो।' सन्तान की उत्तमता के लिये गर्भकाल में स्त्री को प्रसन्न रखना आवश्यक है।

तीसरा—सीमन्तोन्नयन :—यह गर्भ रहने के सातवें-आठवें मास में गर्भवती स्त्री के मन को सन्तुष्ट और आरोग्य रखने तथा गर्भस्थ शिशु की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये किया जाता है। ताकि स्थित हुआ गर्भ उत्कृष्ट हो और प्रतिदिन नियमित मर्यादा से बढ़ता जावे।

(ख) बाल्यकाल में छः संस्कार किये जाते हैं।

पहला—जातकर्म :—सन्तान का जन्म होने पर विधिवत् नाड़ी छेदन और शिशुस्नान कराके सन्तति के चिरायुष्य की शुभकामना के लिये इष्ट मित्रों से आशीर्वाद लिया जाता है। इसमें बालक की जिह्वा पर 'ओम्' (=प्रारम्भिक सहज उच्चारण) अक्षर लिखा तथा उसके कान 'वेदोऽसि' सुनाकर (सोने की शलाका से) मधुप्राशन कराया जाता है, ताकि बालक बलिष्ठ और ज्ञानवान बने। उत्पत्ति के प्रथम दिन से ही बालक को 'मधुरवक्ता' 'सत्यज्ञान श्रोता' बनाना इस संस्कार का उद्देश्य है।

दूसरा—नामकरण :—इससे जन्म से ११वें, १०१ वें, अथवा अगले वर्ष जिस जन्म हुआ हो, बालिका का विधिवत् सुन्दर मधुर व सार्थक नाम रक्खा जाता है।

तीसरा—निष्क्रमण :—जन्म से चौथे मास में बालक की जन्म तिथि पर या यथानकूल समय पर संस्कार करके बालक को घर से बाहर जहां शुद्ध

वायु और सुन्दर दृश्य हों, वहां भ्रमण कराते हैं। जिससे कोमलता कम होकर वह हृष्ट-पुष्ट होने लगे और उसका शरीर शीतोष्ण जलवायु का अभ्यासी बने।

चौथा—अन्नप्राशन :—छठे, आठवें या दसवें महीने में अर्थात बच्चे के दांत निकालने पर जब उसकी शक्ति माता के दूध के अतिरिक्त अन्न पचाने योग्य हो जावे, उस समय प्रथम बार अन्न खिलाने के निमित्त यह संस्कार किया जाता है।

पांचवां—मुंडन :—एक वर्ष के पश्चात् या तीसरे वर्ष होता है। इसमें प्रथम बार बच्चे के केश कटवाये जाते हैं। उसके शिर पर शिखा रक्खी जाती है

दांत निकलते समय अन्य रोगों के साथ-साथ चर्मज रोगों की भी सम्भावना होती है। इसलिये यह संस्कार किया जाता है, जिससे शिर हलका हो जाय और बालक चर्म सम्बन्धी तथा गर्मी होने वाले अन्य रोगों से बचा रहे तथा उसके शरीरिक विकास में अन्तर न आवे।

छठा—कर्णवेध :—तीसरे या पांचवें वर्ष में अन्त्रवृद्धि आदि कई रोगों के उपशमनार्थ बालक के कान की लौ बेधे जाते हैं और उनमें सोने की बाली पहनाते हैं।

(ग) विद्यारम्भ करने के समय दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला—उपनयन :—जन्म से पांचवें वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक की अवस्था में इससे तीन तार का यज्ञोपवीत लड़के या लड़की को दिया जाता है; जिसका आशय व्रत धारण करना है। इस संस्कार से शिक्षा और दीक्षा का प्रारम्भ होता है।

दूसरा—वेदारम्भ :—उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ करने के लिये बालक बालिका को गुरुकुलादि उत्तम शिक्षण संस्थाओं में प्रथमबार भेजते समय यह किया जाता है।

(घ) विद्या समाप्त करने पर दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला-समावर्तन :—विद्यालय व गुरुकुल से ब्रह्मचर्यव्रत नियमपूर्वक विद्याध्ययन समाप्त करके जब ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी माता-पिता के घर वापिस आते हैं, तब उपलब्ध ज्ञान द्वारा उत्तम जीवन बिताने, समाज में उसका क्रियात्मक व्यवहार करने और गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने की स्वीकृत्यर्थ (दीक्षान्तसमारोह) यह संस्कार किया जाता है।

दूसरा—विवाह :— विद्या समाप्ति के पश्चात् स्वतंत्र सामाजिक जीवन के संचालनार्थ आजीवका का उचित साधन सम्पादन करके, गृहस्थी बनकर संतति शृङ्खला को स्थिर रखने अर्थात् उत्तम और बलवान संतान को उत्पन्न करने तथा गृहस्थाश्रम के अन्य कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये समान शीलव्यसन वाले (समान गुण कर्म स्वभाव स्थिति और आयु वाले) स्त्री-पुरुषों को एक सूत्र में बांधने के लिये यह संस्कार' किया जाता है। विवाह सूत्र से बन्ध जाने के बाद स्त्री पुरुष 'वानप्रस्थ' होने से पूर्व तक, *गृहाश्रम-संस्कार* करते रहते हैं अर्थात्—जीवन यात्रा में सुख प्राप्ति के लिये धर्मयुक्त साधनों द्वारा अर्थ संचय करना गृहनिर्माण), अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना, उत्तम पदार्थों का भोग करना तथा धर्मानुसार सन्तान उत्पन्न करना, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम (=त्रिवर्ग) का सफल संपादन इसके द्वारा करते हैं।*

(ङ) पिछली अवस्था में दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला वानप्रस्थ :— वैवाहिक जीवन द्वारा उत्ताम और वीर्यवान् सन्तान उत्पन्न करके जब सन्तान (=ज्येष्ठपुत्र) के भी प्रथम सन्तान उत्पन्न हो जावे या युवावस्था के शिथिल होने पर गृहस्थ को छोड़कर तपः-स्वाध्याय में प्रवृत्त होते समय संन्यासाश्रम की तैयारी के लिये संस्कार किया जाता है।

दूसरा—संन्यास :— पुत्रैषणा वित्तैषणा एवं लोकैषणा का त्याग करके ब्रह्मोपासना और परोपकार के निमित्त अपने को अर्पण कर देने की दीक्षा लेते समय यह संस्कार किया जाता है। अर्थात् जिस समय पूर्ण वैराग्य हो जावे और इतनी शक्ति आ जावे निःस्वार्थ निष्काम-कर्म कर सके, उस समय जिस भी आश्रम में हो उससे सीधे संन्यास आश्रम ग्रहण करे।

अन्त्येष्टि :— मृत्यु के पश्चात् प्राणरहित मनुष्य के शरीर (=शव) को इस संस्कार द्वारा अग्नि में विधिपूर्वक भस्म किया जाता है। इस अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात् मृतक-मनुष्य का हमारे से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। आर्यसमाज मृतक पुरुषों के लिए श्राद्ध-तर्पण नहीं मानता।

---

*कई विद्वान् इसे पृथक् संस्कार गिनते हैं। परन्तु गृहाश्रम-संस्कार वास्तव में विवाह संस्कार की पूर्ति है। इसमें गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। यह पृथक् संस्कार नहीं।

आर्य समाजशास्त्र की भूमिका

१ मनुष्य समाज और मनुष्य जीवन के चार विभाग

वेदों के उपदेश और मनुष्य शरीर की रचना के आधार पर मनुष्य समाज का विभाग चार भागों में किया गया है जिनको 'वर्ण' नाम से कहते हैं और वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं, और मनुष्य जीवन का विभाग चार आश्रमों में किया गया है। वे ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम हैं।

आर्यसमाज 'चतुर्मुखी सामाजिक अभ्युदय' (संघ-सौष्ठव) के लिये वेदानुकूल 'वर्णाश्रम की व्यवस्था' को आवश्यक मानता है। यह वर्णाश्रम व्यवस्था ही एक ऐसी व्यवस्था है, जो समाज में सब व्यक्तियों को 'परहित' का ध्यान रखते हुये 'स्वहित' का सर्वोत्तम समान अवसर दे सकती है। मानवसमाज में प्रचलित देश-जाति सम्प्रदाय और रंग आदि का भेद कृत्रिम और सर्वोदय में बाधक है।

आर्यसमाज मनुष्यमात्र अर्थात् सभी आदमियों के बालक व बालिकाओं को बिना किसी भेदभाव के समान रूप से विद्या प्राप्त करने का अधिकारी मानता है और विद्यालय में पढ़ाई की समाप्ति पर जिस जिस विद्यार्थी का जो-जो वर्ण उनकी योग्यतानुसार इनका आचार्य निश्चित करे, वह-वह उनका वर्ण मानता है; चाहे उनके पिता का 'वर्ण' कुछ ही हो।

———

२ आश्रम-व्यवस्था

मानव-जीवन को पूर्णतः सफल करने के लिये मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिनमें परिश्रम पूर्वक उत्तम गुणों को ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाते हैं।

शारीरिक बल, बौद्धिक उन्नति और आत्मिक विकास के लिये ब्रह्मचर्याश्रम है।

शरीर मन आत्मा की शक्तियों के व्यवहारिक प्रयोग अर्थात् उत्तम सन्तान पैदा करने, आजीविका सम्पादन करने और सामाजिक कर्त्तव्यों का धर्मानुसार पालन करने के लिये गृहस्थाश्रम है।

तप स्वाध्याय द्वारा क्षीण शक्तियों के संग्रह और मानसिक आत्मिक शक्तियों को समुन्नत करने के लिये वानप्रस्थाश्रम है।

---

(१) ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् विद्यार्थी जीवन

यह विद्या पढ़ने, सुशिक्षा व उत्तम व्यवहार सीखने के लिये होता है। जब बच्चा पैदा होता है, तब बाल्यकाल में सबसे पहले मातापिता उसकी देखभाल व लालन पालन करते हैं, और जब वह बड़ा हो जाता है, तब उसको आचार्यकुल में विद्याभ्यास के लिये भेज देते हैं। इसी का नाम ब्रह्मचर्य आश्रम है। इसकी अवधि लड़के के लिये कम से कम पच्चीस वर्ष और कन्या के लिये सोलह वर्ष की है। इस आश्रम की जिम्मेदारी तीन व्यक्तियों पर होती है।

पहली माता, जो जन्म से पांच वर्ष तक सन्तान को सभ्य व्यवहार व शुद्धोच्चारण का अभ्यास कराती है। यदि माता योग्य व सुशिक्षित हो, तो सन्तान को उत्तम व्यवहार सिखाती है और वह बिना परिश्रम के बहुत सी ज्ञान की बातें सीख लेता है। यदि माता कुलक्षणी असंस्कृत हो, तो उसकी सन्तान आरम्भ से ही बुरी बातें सीख लेती है और पीछे उसका सुधरना कठिन हो जाता है।

दूसरा पिता, जो पांच वर्ष की सन्तान हो जाने के पश्चात् उसका अधिक ध्यान रखता है। क्यों कि अब बच्चा पिता के साथ रहने लगता है। पिता यदि अनपढ़ असंस्कारी है, तो सन्तान भी वैसी ही हो जाती है और यदि पिता सुपठित व सुशिक्षित है, तो सन्तान भी उत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त बन जाती है।

तीसरा आचार्य, जब बच्चा आठ वर्ष का होता है, तब उसका उपनयन कराके उसे गुरुकुल में विद्या प्राप्ति के लिये भेज देते हैं। यह नियम बालक बालिका दोनों के लिए समान है। परन्तु इसमें इतना भेद जानना चाहिये कि कन्या और बालक इस अवस्था के बाद पृथक्-पृथक् पाठशालाओं में प्रविष्ट करा दिये जाते हैं। सहशिक्षा इस काल के बाद नहीं दी जाती, क्योंकि यह सदाचार की बाधक है।

(२) गृहस्थाश्रम अर्थात् विवाहित जीवन

गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अभिप्राय है, स्त्री-पुरुषों का मिलकर सन्तानोत्पादन तथा आजीविका सम्पादन करना अर्थात् अर्थकाम का सम्पादन। दो आत्माओं के मिलन के निमित्त विवाह एक पवित्र धार्मिक सम्बन्ध है; जो कि मानव जाति के सर्वविध सामाजिक, आर्थिक, नागरिक जीवन का मुख्य आधार और आदर्श है। यह स्वेच्छाहार-विहार के निमित्त किया गया कान्ट्रैक्ट (नियत-काल-सम्बन्ध) नहीं। विवाह माता-पिता के परामर्श, (चुनाव, ढूंढ़, सलाह) समाज (सोसायटी, विश्वे-देवाः) की अनुमति तथा वधू-वर की तदर्थ सहमति (स्वीकृति, स्वयंवरण) के आधार पर प्रसन्नतापूर्वक किया जाना चाहिए।

यह आश्रम सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के लिये है अर्थात् सुन्दर स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करना और उसको योग्य बनाना, धर्म से धन कमाना और धर्म=(परोपकारमय कर्मों) में व्यय करना और अन्य आश्रितों का पालन करना। इसीलिये, इसको ज्येष्ठ आश्रम भी कहते हैं।

जो सदाचार से रहता हुआ आजन्म ब्रह्मचारी रहना चाहे, वह रह सकता है। परन्तु जो न रह सके, वह अपने वर्ण में विवाह कर सकता है। ऐसे पुरुष के लिये कम से कम पच्चीस वर्ष और कन्या के लिये कम से कम सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहना अनिवार्य है। विवाह करने वाले पुरुष और स्त्री यदि इस समय की अवधि से भी दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य रखना चाहें, तो रख सकते हैं। पुरुष को अधिक से अधिक अड़तालीस वर्ष तक और स्त्री को चौबीस वर्ष तक ही ब्रह्मचर्य रखना चाहिये। इसके पश्चात् ब्रह्मचर्य नहीं रखना चाहिये।

पति-पत्नी में से किसी एक के मर जाने पर अथवा दोनों के जीवित होने पर किसी कारण से जैसे नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों के कारण या आपत्काल में दोनों में से किसी के सम्बन्ध योग्य न रहने की दशा में सन्तानोत्पादन के निमित्त समान गुण कर्म स्वभावस्थिति आयु वाले विवाहित स्त्री-पुरुषों में राज्यव्यवस्था-नुसार नियमपूर्वक पुनः सम्बन्ध अर्थात् धर्मानुसार नियोग हो सकता है। वर्त्तमान परिस्थिति में वेदोक्त राज्य पद्धति न होने के कारण आर्यसमाज विधवाविवाह को भी स्वीकार करता है।

कुमार और कुमारी का धर्मशास्त्रानुसार दाम्पत्य सम्बन्ध वैदिक परिभाषा में विवाह कहलाता है। विधुर से विधवा के सम्बन्ध को पुनर्विवाह कहते हैं। यह शूद्र कर्म है, द्विज कर्म नहीं है। परन्तु पापकर्म भी नहीं है।

विधुर का कन्या से विवाह अवैदिक कर्म है। इसके करने से बहुत से बिगाड़ उत्पन्न हो जाते हैं, और इससे एक कुमार और एक विधवा के अधिकार का हनन होता है।

विधुर और विधवा यदि द्विज हों और ब्रह्मचर्य न रख सकें तो उनके लिए 'नियोग' का विधान है। उससे सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। यदि ब्रह्मचर्य रख सकें तो अपने कुल की परम्परा रखने के लिये किसी अपने स्वजाति का लड़का ले सकते हैं। उससे कुल चलेगा परन्तु वेश्यागमन व व्यभिचार कभी न करें।

'नियोग' भी 'विवाह' की भांति नियमानुसार प्रसिद्धि से किया जाता है। भेद केवल इतना है कि विवाह में पत्नी पति के साथ उसके घर जाती है और वहां रहती है परन्तु नियोग में पति और पत्नी अपने २ घर पर ही रहते हैं। केवल गर्भाधान के लिये नियुक्त पुरुष नियुक्ता स्त्री के घर जाता है।

नियुक्त पुरुष अपने कुल का और नियुक्ता स्त्री अपने मृत पति के कुल का नाम चलाने के लिये प्रत्येक अपने लिए केवल दो-दो सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं विशेष नहीं। इसके पश्चात् सम्बन्ध विच्छेद हो जावेगा।

जो मनुष्य अपने कुल की उत्तमता, सन्तान को उत्तम, दीर्घायु, सुशील, बुद्धि बल पराक्रम युक्त, विद्वान् और श्रीमान् बनाना चाहें, वे सोलह वर्ष से पूर्व कन्या और पच्चीस वर्ष से पूर्व कुमार का विवाह कभी न करें। यही सब सुधारों का सुधार और सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों को उन्नति करने वाला कर्म है। इस अवस्था में ब्रह्मचय रखा के अपनी सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे वे उत्तम सदाचारी सभ्य धार्मिक बनें।

----

(३) वानप्रस्थ तथा संन्यास, आश्रम

तीसरा वानप्रस्थ आश्रम है—यह विज्ञान बढ़ाने और तपश्चर्या करने के लिए है। यह गृहस्थ का मोह छोड़ कर बाहर वन में जाकर रहने का आश्रम है।

वर्तमान काल में वैदिक राज्य न होने के कारण वानप्रस्थियों को वन में जाने की पर्याप्त सुविधाएं नहीं हैं।

चौथा संन्यासाश्रम है—यह वेदादि शास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण, दुष्ट व्यवहार का त्याग, सत्योपदेश और सब को निस्सन्देह करने के लिये है।

----

३. वर्णव्यवस्था

उक्त समाज को उत्तमरीत्या संगठित अखण्ड बनाये रखने, सबके लिये उन्नति का समान अवसर और नागरिकता का समान अधिकार दिये जाने के भाव को कार्यरूप देने और सबके लिये जीविका-उपलब्धि का सदुपाय कराने के लिये आर्यऋषियों द्वारा निमित्त श्रमविभाग रूप सुन्दर विधान का नाम 'वर्णव्यवस्था' है। प्रत्येक व्यक्ति से उसकी रुचि, सामर्थ्य और गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अनिवार्य रूप में कार्य लेने और काम के अनुसार जीवनोचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था के लिये ही 'वर्णविभाग है। यह पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है।

———

(१) वर्ण का प्रारम्भ व समाप्ति

इसलिये विद्यारम्भ करने से लेकर विद्यासमाप्ति तक बालक की योग्यता को देखकर जब वह स्वतंत्र आजीविका व गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है, उस समय प्रत्येक का वर्ण नियत किया जाता है। और—

जब तक मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ, आजीविका सम्पादन करता है, तभी तक यह वर्ण-विभाग रहता है। वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में गये हुओं का कोई वर्ण नहीं होता।

———

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र

अविद्या के नाश, विद्या की वृद्धि और सदाचार की शिक्षा के लिये ब्राह्मण-वर्ण होता है। शम, दम, शौच, आस्तिका, ज्ञान व विज्ञान इसके विशेष गुण होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि—

(१) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ राष्ट्र सन्तति को ज्ञान प्रदान करके मानव समाज की सेवा करे, उसे ब्राह्मण कहते हैं। यह प्रजा में मानवधर्म, नीति, सदाचार, संस्कृति सभ्यता का प्रचार करता है। वह राष्ट्र-धर्म, राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्र-संस्कृति को विकसाता है।

दान द्वारा आजीविका सम्पादन करता है। अन्याय के नाश, न्याय शासन की स्थापना देश व जाति, पतित व दुःखित जनों की रक्षा के लिये क्षत्रिय वर्ण होता है। शौर्य, तेज धृति, दक्षता व विजय शीलता और ईश्वर भक्ति क्षत्रिय के विशेष गुण होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि—

(२) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके चरित्रवान् होता हुआ, संकट काल में मनुष्यों की रक्षा और संकट सामग्री का विनाश करे, उसे क्षत्रिय कहते हैं। यह राष्ट्र-शक्ति को विकसाता है। शासन सम्बन्धित कार्यों द्वारा आजीविका सम्पादन करता है।

(३) जीवनयापन की आवश्यक सामग्री को उत्पन्न करना और देशदेशांतर से लाकर जुटाना वैश्य का कर्म है। चातुर्य, दूरदर्शिता, साहस, ईश्वर-भक्ति इसके विशेष गुण होगें। इसका अभिप्राय यह कि—

जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान् होता हुआ, कृषि कर्म व्यापार आदि से धन धान्य आदि का संग्रह करके समाज को समृद्ध करे, उसे वैश्य कहते हैं। यह राष्ट्रधन को विकसाता है।

(४) जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे; वह निर्बुद्धि व मूर्ख होने से शारीरिक श्रम द्वारा उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा और सहायता करता है। इसका अभिप्राय यह है कि—

जो उत्तम विद्या को मन्दमति होने के कारण प्राप्त न कर सके; परन्तु चरित्रवान् हो ; वह तीनों वर्णों की शरीर द्वारा सेवा करता है और आजीविका प्राप्त करता है। इसे शूद्र कहते हैं। यह राष्ट्रश्रम को विकसाता है।

———

(३) जीव और वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति नहीं वर्ण हैं। वर्ण और जाति एक नहीं होते। प्राणी वर्ग में मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि कीटादि भिन्न २ जातियां हैं। लिंग भेद से इनमें स्त्री-पुरुष दो भेद हैं। मनुष्यवर्ग में 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' चार वर्ण हैं। जाति का निर्णायक जन्म और वर्ण का निर्णायक 'गुण-कर्म-स्वभाव' (तथा इनके आधार पर बना जीविका साधन) है।

(४) उन्नति का समानावसर

आर्य नागरिकों अर्थात् संघ निर्माण में सहायक जनों की योग्यता और वृत्ति के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण नियत होते हैं इसके अतिरिक्त कोई पंचम वर्ण नहीं है। इन चारों वर्णों में सामाजिक एवं नागरिक अधिकारों की दृष्टि से न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार ही समाज निर्माण के उद्देश्य से जिसकी जैसी योग्यता तथा वृत्ति है, उससे वैसा कार्य लेने के लिए मानव समाज 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र' नाम से चार प्रकार के विभागों में संगठित होना चाहिये। आहारविहार, निवास, विद्या, व्यवसाय, परोपकार अर्थात् लोक सेवा तथा आमोद प्रमाद' का सबको समान अधिकार तथा अवसर मिलना चाहिये।

शरीर में अंगों के समान, सब वर्ण समाज के उपयोगी अंग हैं। अर्थात् जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बिना किसी ऊंच-नीच भाव के अपने कर्मों (फंकशन्स) को करते हैं; वैसे ही समाज रूपी शरीर के अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में अपने-अपने कार्य करते हुये परस्पर सहयोग प्रेम और विश्वास का होना समाज की उन्नति, शान्ति व दृढ़ता के लिए परम आवश्यक है।

———

(५) वर्णपरिवर्त्तन

इसलिये वर्ण भी बदल सकता है अर्थात् एक व्यक्ति जो आज ब्राह्मण वृत्ति में है, कल क्षत्रिय या वैश्य वृत्ति को स्वीकार करके क्षत्रिय या वैश्य कहा सकता है। इसी प्रकार शूद्र भी इसी जीवन में 'ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य' बन सकता है।

कोई भी धर्मानुकूल सद्वृत्ति नीच नहीं। शूद्र का काम नीच नहीं; उससे किसी को घृणा नहीं करनी चाहिये। किसी को भी पंचम, चाण्डाल, निषाद, म्लेच्छ, भंगी, चमार, माला मादिग, पलिय पुरिय कह अस्पृश्य मानना और उससे घृणा करना, वेदशास्त्र विरुद्ध, हानिकारक तथा मानव धर्म प्रतिकूल है और यह न केवल सामाजिक नियमों का उल्लंघन है, अपितु कानून के अनुसार दण्डनीय है।

———

(६) साम्यवादी व्यवस्था

प्रत्येक देश के वासियों को उनके अपने देश की समृद्धि और मानवता के विकास में सफलीभूत होने के लिए तद्देशीय नागरिकों को, उनके गुण कर्म स्वभावानुसार (वृत्ति संपादनार्थ) इन चारों वर्णों में बांटने की आर्यसमाज विश्व के सामने यह योजना रखता है। इसको स्वीकार किये बिना साम्यवादिक रूप में विश्व में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

वर्णों का यह विभाग केवल लोक सम्बन्धी कर्मों से होता है; परलोक सम्बन्धी कर्म अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, दानधर्म और जप-तप आदि अनुष्ठान सब के लिये एक जैसे हैं। इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं। समतुलित सर्वोदय के लिये समाज-शास्त्र के आदि प्रणेता या जन्मदाता मनु महाराज द्वारा प्रचारित *वर्णव्यवस्था* के शुद्ध ज्ञान के लिए उपरोक्त बात को अवश्यमेव स्पष्टतया समझ लेना चाहिये।

त्रयोदश अध्याय

आर्य–दस्यु

भूतल पर बसने वाले किसी भी मानव समुदाय में, वहां की देश काल परिस्थिति के अनुसार बने धर्मन्याययुक्त नियमों में चलने वाले शांतिप्रिय श्रेष्ठस्वभाव धर्मात्मा परोपकारी सत्यविद्यादिगुणयुक्त नागरिकों को *आर्य** कहते हैं। इनका परित्राण, समाज व शासन द्वारा होना आवश्यक है। और सामाजिक व्यवस्था का उल्लंघन कर प्रजावर्ग का किसी भी प्रकार से शोषण करने वाले उपद्रवी दल अर्थात् अनार्य अनाड़ी, आर्यों के गुण कर्म स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू चोर हिंसक दुष्ट मनुष्य दस्यु† इन दस्युओं का दमन 'अधिक-जनहित' के विचार से न्यायानुमोदित है।

आर्यसमाज, मानव समाज के किसी भी वर्ग समुदाय या अंग का समुचित ्ध उपायों द्वारा रक्षण करना कर्त्तव्य समझता है। जिसमें प्रचलित दुष्ट दुराचारी ्ासन द्वारा वहाँ की प्रजा सन्त्रस्त व पददलित की जा रही हो; ऐसे अन्यायपूर्ण शासन के समूलोन्मूलन के निमित्ति धर्मानुसार 'यथायोग्य बर्ताव' की नीति का अर्थात् दुष्टदमनार्थ 'साम दाम दण्ड भेद' के प्रयोग का समर्थन करता है; ऐसा करने में चाहे हिंसा का आश्रय भी क्यों न करना पड़े।

आत्मरक्षणार्थ व धर्म-स्थापनार्थ (मत प्रचार के निमित्त नहीं) अवसर पड़ने पर युद्ध को न्यायानुमोदित मानता है। परन्तु, युद्ध का प्रयोजन अपनी शक्ति का प्रदर्शन या प्रभुत्वस्थापन या साम्राज्य विस्तार नहीं। निरपराध प्रजा की रक्षा के लिये अन्याय अत्याचार अधर्माचरण को रोकने के लिए सैनिकशक्ति का प्रयोग भी करना पड़े, तो समुद्यत रहना है।

---

* जो उत्तम विद्या प्राप्त कर चरित्रवान् होकर अथवा जो मन्दमति होने के कारण उत्तम-विद्या से विहीन भी चरित्रवान् होकर समाज की सेवा करे, वह आर्य। और

† जो न उत्तमविद्या प्राप्त करे, न चरित्रवान् हो और समाज में त्रास-गड़बड़ी पैदा करे तथा जो उत्तमविद्या प्राप्त करके भी चरित्रभ्रष्ट अधार्मिक परहितघाती बन समाज में त्रास-गड़बड़ी पैदा करे, वह दस्यु कहाता है।

चतुर्दश अध्याय

सर्वोदय

१ नागरिकता के मौलिक अधिकार

शरीर-रचना और समान प्रसव की दृष्टि से सब मनुष्य जन्म से समान हैं; न कोई बड़ा है, न छोटा। मनुष्यत्व की दृष्टि से सब समान हैं। परन्तु क्योंकि मनुष्ययोनि में आने वाले प्रत्येक जीव के 'गुण-कर्म-स्वभाव' पृथक् पृथक् होते हैं और 'देश-काल-स्थिति' भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिये उनके पद और योग्यता में भेद पड़ जाता है। जीव अपने कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जन्म पाता है। प्रत्येक का प्रारब्ध भिन्न होता है; अतः जन्म से ही भिन्न-भिन्न सामर्थ्य रुचि स्वभाव व भोगवाला होता है।

क्योंकि ईश्वर हमारा माता-पिता सखाबन्धु है, इसलिए हम सबको मिलकर अपनी अभिवृद्धि करनी चाहिये। अभ्युदयनिःश्रेयस की सिद्धि में सबको समान अवसर मिलना चाहिये। इसलिये आर्यसमाज सामाजिक व्यवहारों में समानभ्रातृ-भाव, विचार एवं कार्य में समान स्वातंत्र्य और नागरिकता के सम्बन्ध में समाना-धिकार के सिद्धान्त का समर्थन करता है। मनुष्य को प्राणीमात्र के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तने की शिक्षा देकर, ऋषि दयानन्द अपने से पूर्वकालीन युगपुरुषों के पथप्रदर्शक के रूप में माने जावेंगे।

स्त्री-पुरुष को उनके नैसर्गिक भेद के कारण पैदा हुई विषमता को छोड़ कर अन्य सब आहार विहार आदि कार्यों में समानाधिकार है। सांघिक दृष्टि से इनके नागरिक व आर्थिक अधिकारों में कोई भेद नहीं। कोई किसी का दास या दासी नहीं है। स्त्रियाँ पढ़ सकती हैं, उपदेश दे सकती हैं; कृषि शिल्प व्यापार चला सकती हैं; और समय आने पर युद्धों तक में भाग ले सकती हैं; शासन कार्य चला सकती हैं। आर्यसमाज की दृष्टि में स्त्रियों का विशेष आदर करना चाहिये। वे गृहलक्ष्मियाँ और साम्राज्ञी हैं। साम्राज्ञी का अर्थ है, समान अधिकार वाली।

———

२ समान प्रवेश

आर्य समाज सबके इकट्ठे होने के स्थलों अर्थात् यातायात के साधनभूत यान रथ सवारी आदि, जलाशय व भोजनशाला, पार्क, पुस्तकालय व पूजा-स्थलों पर सबको समान प्रवेश को स्वीकार करता है। परन्तु जिनको इन पूजा स्थलों की पवित्रता और उनकी पूजापद्धति में श्रद्धा, विश्वास व मान्यता नहीं, उनको इनके उपयोग व इनके प्रवेश की अनुमति देना हानिकारक समझता है। किन्तु द्रष्टा रूप से वहाँ की मर्यादानुसार जाने पर प्रतिबन्ध नहीं मानता।

पंचदश अध्याय

१. सर्वोदयी-राजतन्त्र

राजा (उच्च शासन, सभापति, सर्वाधिकारी, राष्ट्रपति, अध्यक्ष) उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित हो, न्यायकारी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय,, अभयदाता, शत्रु नाशक, शांतिव्यवस्था का संस्थापक, सर्वोपकारी न्यायधर्म का सेवक, प्रजापीड़नरहित, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और पुत्रवत् उनको मानकर उनकी उन्नति और देश पर शासन करता है।

प्रजा उसको कहते हैं जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्यायधर्म के सेवन से राज्य की उन्नति चाहते हुए राजविद्रोहरहित राजा को पिता मान उसके साथ पुत्रवत् वर्त्ते।

राजा और प्रजा के पुरुष मिलके सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में अपने अपने राष्ट्रों में तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा नियत करके समग्र राष्ट्रवासियों को सब ओर से विद्या, स्वातंत्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें। यही राष्ट्र-सेवा है।

राजा और राजसभा अलब्ध प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करें, रक्षित को बढ़ावें और बढ़े हुए धन को वेदविद्याधर्म का प्रचार, विद्यार्थियों को विद्यादान, असमर्थ अनाथों के पालन पोषण और समस्त प्रजा की सुखसमृद्धि के निमित्त लगावें। यही राष्ट्रसेवा है।

आर्यसमाज की सम्मति में एक को, राज्य का स्वतंत्र अधिकार नहीं देना चाहिये। राजा के अधीन सभा और सभा के नियन्त्रण में राजा, राजा और राजसभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा व राजा के अधीन रहे।

राज्यसभा—का मुख्य काम राज्य-व्यवस्था का स्थापन करना, दुष्टों को दण्ड देकर न्यायव्यवस्था करना, अनाथ असहायों का पालन पोषण करना, देश की अन्तर्बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना आदि हैं। गृहविभाग तथा विदेशविभाग इसके अन्तर्गत हो सकते हैं।

विद्यासभा—का मुख्य काम विद्या प्रचार करना, शोध के कार्यों का निरीक्षण करना, विज्ञान केन्द्रों का स्थापित करना आदि आदि हैं। शिक्षाविभाग इसके अन्तर्गत है।

धर्मसभा—का मुख्य काम यह है कि वह जनता में धर्म-मर्यादा, सदाचार नीति नियमों का प्रचार और लोगों के जीवन में धर्म का संचार करे। जनसेवा विभाग जो लोक कल्याणकारी योजनाएँ बनाता है, इसके अन्तर्गत हैं।

ये तीनों स्वतंत्र सभायें नहीं; परन्तु राज्य (या स्टेट) के अधीन कार्य करती हैं।

---

२. प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था

मताधिकार

भले बुरे, हानि लाभ, सुख दुःख, और सच झूठ की पहचान रखने वाले विवेकशील न्यायप्रिय प्रत्येक स्वदेश के नागरिक वयस्क स्त्री-पुरुष को वोट देने का अधिकार मानता है। परन्तु करोड़ों मूर्खों के मत से एक विद्वान् के मत को अधिक मान्यता होनी चाहिए।

सर्वलोक कल्याणार्थ सामान्य प्रजा में से (बिना किसी जाति-कुल-मत-भेद के) विवेकयुक्त प्रजा द्वारा चुने श्रेष्ठ योग्य त्यागी समर्थ प्रतिनिधियों के स्वदेशीय-शासन की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है।

किसी भी राष्ट्र (समाज+देश) में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व व विशेष अधिकार-दान अथवा देश-विभाजन को अहितकर, अराजनैतिक व अराष्ट्रीय समझता हुआ उसका विरोधी है। आर्यों=(निःस्वार्थ, चरित्रवान्, धार्मिक, आप्त, उत्तम नागरिकों) के हाथ में शासन होना चाहिये; चाहे उनका मत व सम्प्रदाय कुछ भी क्यों न हो? मत (रिलिजन) का जातीयता (राष्ट्रीयता व नेशनैलिटी) से कोई सम्बन्ध नहीं मानता। हिन्दुत्व (भारतीयता) जातीयता है; मत (रिलिजन) नहीं। भारत देशोत्पन्न एक मुसलमान का मत इस्लाम है; पर उसकी जातीयता हिन्दू* (भारतीय) है। अफ़गानिस्तान में अफ़गानिस्तान जातीयता है; यद्यपि भिन्न भिन्न कई मत हो सकते हैं। तुर्किस्तान का निवासी एक तुर्क शैव या वैष्णव भी हो सकता है और मुसलमान या ईसाई भी। यदि एक व्यक्ति जिसका मत इस्लाम है, सदा के लिये भारत देश में बस जावे तथा इस देशको अपना देश बना लें, तो जातीय तौर पर वह भारतीय-मुसलमान (हिन्दी-मुसलमान) कहलावेगा जैसे कुछ व्यक्ति भारतीय-ईसाई व भारतीय-वैष्णव कहलाते हैं।

व्यक्तियों के समुदाय का नाम समाज है। जब मनुष्यों के एक बड़े समुदाय के व्यक्तियों में बहुत देर तक एक विशेष भूखण्ड पर बसे रहने के कारण एकानुभूति और आत्मीयता का विकास हो जाता है, जिससे उसमें एक सा आचार-विचार, एक सा आहार-विहार, एक सा अनुष्ठान, एक सी वेश-भूषा, एक भाषा एवं एक सी साहित्यिक धारणायें और एक शासन व्यवस्था विकसित हो जाती है; तब वह समुदाय इतिहास में एक विशेष जाति का वाचक हो जाता है। इसकी सभ्यता, संस्कृति और भाषा एक हो जाती है। परन्तु,

केवल-मत या केवल-भाषा आर्य समाज की सम्मति में जातीयता का आधार नहीं हो सकते।

---

* भारतवर्ष में बसने वाले व्यक्ति का जातीय नाम 'हिन्दू' न तो प्राचीन साहित्य में है और न ऋषि दयानन्द ने ही माना, भ्रमात्मक भी है, अतः हमें अपना वास्तविक नाम 'आर्य' या 'भारतीय' ही अपनाना चाहिये।

आर्य समाज की दृष्टि में प्रत्येक राज्य मुख्यतः धर्मयुक्त न्यायशील और नागरिकता के अधिकार की दृष्टि से न्यायप्रिय लोकराज्य (सैक्युलर स्टेट) होना चाहिये। राज्य का कोई मत (राजमत) नहीं होता; परन्तु राजधर्म अवश्य होता है।*

राज्य में सुख-शान्ति-व्यवस्था की स्थापना और जनता में धर्म व सदाचार के स्तर का उन्नत करने का पूर्ण-प्रबन्ध न्यायप्रिय लोकराज्य को अपनी ओर से करना चाहिये; ताकि समस्त प्रजा नीति मर्यादा में रहती हुई परस्पर प्रेम और विश्वास से निर्भय रह सके और अपने अधिकारों का उपभोग कर सके। जो संस्थायें प्रजा में मानव धर्म, उत्तमसदाचार व श्रेष्ठनीति प्रसार करती हों, उन्हें प्रचार की खुली छुट्टी तथा पूर्णसहायता देना उचित और आवश्यक है। साथ ही शिक्षण संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ से बालकों के मनों पर दया, सेवा, स्नेह आदि उत्तम संस्कार बैठाने के लिये, राज्य द्वारा धर्म और सदाचार की शिक्षा-दीक्षा को भी आर्य समाज अनिवार्य समझता है।

---

३. स्वदेशी व्यवहार

भूमन्डल के प्रत्येक देश के वासियों को अपने-अपने देश की संस्कृति व परम्पराओं का मान तथा स्वदेश में निर्मित व उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करना चाहिये।* आर्य समाज किसी भी देश की संस्कृति व सभ्यता की अच्छाइयों को स्वीकार करने को प्रेरणा करता है। अन्धानुकरण का विरोधी है। जो आचरण और सभ्यता वेदानुकूल नहीं, उनका विरोध करता है; चाहे वे भारत के हों या किसी अन्य देश के।

---

* राजशासन व व्यवस्था वेदोक्त होनी चाहिये। क्योंकि वेद सार्वभौम सत्यधर्म प्रतिपादक हैं, मतविशेष के प्रतिपादक नहीं।

* इस सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार आर्य समाज स्वदेशीय वस्त्र, स्वजातीय-सभ्यता व संस्कृति और स्वदेशीय व्यापार की अभिवृद्धि करने में सर्वदा यत्नशील रहता है। विदेशी सभ्यता की बुराइयों से भारतीयों को सदा सचेत करता है।

४. राजभाषा

प्रत्येक देश या राष्ट्र के लिये उसकी मातृभाषा को राजभाषा किये जाने के सावभौम सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार, भारत देश के लिये वर्तमान स्थिति में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी (आर्य भाषा) को राजभाषा स्वीकारता है। और प्रत्येक आर्य सभासद व देशवासी को इसके पढ़ने को प्रेरता है। वस्तुतः आर्य समाज संस्कृत भाषा को राजभाषा बनाने का पक्षपाती है।

प्रत्येक देश के विद्यापीठों व अन्य सभी प्रकार की शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम उस देश की राष्ट्रभाषा ही होनी चाहिये। इसी में मानव जाति का कल्याण मानता है।

राजभाषा या राष्ट्रभाषा के निर्णय में 'मत-सम्प्रदाय' का सम्बन्ध व विचार अराजनैतिक और सर्वदा अहितकर है। चीन या इंग्लैंड में बसने वाले हिन्दू (=भारतीयों) की राजभाषा चीनी या इंग्लिश और इसी प्रकार भारत बसने वाले जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी व सिक्ख सभी की राजभाषा हिन्दी होनी चाहिये।

संस्कृत को विश्व (सार्वभौम) भाषा स्वीकारता है।

५. विदेशनीति

आर्यसमाज प्रत्येक देश की पूर्ण स्वतन्त्रता अर्थात् सब प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, व्यापारिक व आर्थिक मामलों में उस देश की प्रजा की स्वीकृति और उनके शासनाधिकार को आवश्यक स्वीकारता है।

एक देश का दूसरे देश पर, एक जाति का दूसरी जाति पर, एक समूह (वर्ग व दल का) दूसरे समूह (वर्ग व दल) पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी प्रकार के प्रमुख को अनुचित और मानवाधिकारों को विनाशक समझता हुआ, उसका प्रबल विरोधी है। उन सब प्रवृत्तियों का, जिनके नाम पर 'कोई जन-समुदाय' प्रजा के हिताहित का ध्यान किये बिना, केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये धनफल (=पूँजीवाद), राजबल (=साम्राज्यवाद), बुद्धिबल (=पुरोहितशाही) शरीर-

बल (=आतंकवाद) की सहायता से अन्य जनों की आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक, बौद्धिक, शारीरिक निर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाता है और उसे प्राप्त धन (=कैपिटल) और शक्ति (=पावर) का अपने प्रभुत्व के लिये स्वयं भोग करता है, उनका आर्यसमाज विरोधी है।

संसार भर का उपकार करना अर्थात् मानवमात्र की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सामाजिक व राष्ट्रिय उन्नति करना आर्यों का परम उद्देश्य है। इसी दृष्टि से दो देशों को परस्पर वर्तना चाहिये।

६. विश्वशान्ति के लिये :—

हर एक राष्ट्र के लिये जिसकी एक संस्कृति सभ्यता हो अर्थात् जिसमें एक भाषा, एक जैसे आहार-विहार, एक जैसी वेशभूषा एक जैसे अनुष्ठान, और एक प्रकार के आचार-विचार वाला जनसमुदाय रहता हो, चाहे उसमें कितने भी मतमतान्तर क्यों न हों और जिसमें ऐसे समुदाय को रहते इतना समय बीत गया हो कि उस देश के साथ मातृत्व की स्नेहमयी भावना जागृत हो गई हो, उसको राजनैतिक (=भूः) व सांस्कृतिक (=भुवः) आत्मनिर्णय अर्थात् स्वभाग्य निर्णय =(स्वः) का बिना किसी प्रतिबन्ध के पूरा पूरा अधिकार दिलाना चाहता है।

अन्तरजातीयवाद से विश्व में सुख, शान्ति व्यवस्था का होना सम्भव मानता है। इसलिये भूतल पर 'आर्यों' के चक्रवर्ती साम्राज्य' की स्थापना करना चाहता है; ताकि समस्त देशों के योग्य, त्यागी, समर्थ, आप्त बुद्धिमान सज्जनों (आर्यों=उत्तम नागरिकों) द्वारा निर्मित पद्धति के आधार पर समस्त भूमण्डल पर एक जैसी शासन व्यवस्था हो और जिससे समस्त बिखरे राष्ट्र एकसूत्र में ग्रथित रहें।

मनुष्य के लिये कर्म करते हुए (अर्थात् समाज में किसी न किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य करते हुए) सौ वर्ष तक 'अदीन (=स्वतन्त्र) जीवन' बिताने का उपदेश करता है। सर्वतोमुखी कल्याणार्थ सबके लिये परिश्रम करना अनिवार्य है, बिना परिश्रम के उपभोग करने व अकेले खाने को पाप (=सामाजिक अपराध) समझता है। योग्यतानुसार समाज में सब का स्थान नियत होना चाहिये। और आवश्यकतानुसार सबके, भोजनाच्छादननिवासविद्या विहार व्यवसाय-कार्य व परोपकार' की उचित व्यवस्था को बिना किसी भेदभाव के स्वीकारता है। अर्थात् 'मानवसंघ' के अभ्युदय के लिये हर व्यक्ति की योग्यता-

सामथ्य से लाभ उठाना और सबके लिये 'अन्नवस्त्रगृहशिक्षा' का समुचित प्रबन्ध करना राज्य का उद्देश्य निर्धारित करता है।

आर्यसमाज, उत्तम आयनागरिकों के द्वारा एक ऐसे 'मानवसमाज' का निर्माण कर रहा है, जिसमें उच्च-नीच, गरीब-अमीर, शोषक-शोषित सब भेद-भाव मिट जावेंगे। एक ऐसे प्रेम युक्त विश्वासपूर्ण, सेवामय वातावरण की सृष्टि करना चाहता है, जो प्राणिमात्र में एकता लाकर 'अत्याचारी पशुमानव' को 'सच्चा मानव' बना दे।

संसार के समस्त महापुरुषों, पीर-पैगम्बरों, साधु-सन्तों, विद्वानों; नेताओं; आदर्श पुरुषों; का यथायोग्य मान करता है। हर एक मत और मतवालों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को क्रान्तिकारी युगपरि-वर्त्तक, वैदिक-धर्म-चक्र-प्रवर्त्तक, प्राचीन आर्य संस्कृति का पुनरुद्धारक, समाज-सुधारक, विश्वइतिहास में नवयुग निर्माता, भारतवर्ष की चतुर्मुखी उन्नति का जनक राष्ट्रपितामह, उत्तमसंगठनकर्त्ता, उद्भूत आन्दोलनकारी और इस समाज का संस्थापक मानता है।

षोडश अध्याय

१. निःश्रेयस-प्राप्ति

सृष्टि में जीव स्वतन्त्रतापूर्वक जैसा शुभ कर्म करता है, उनको तदनुसार सुखदुःखात्मक फल भोगने के लिए वैसे ही योनि (शरीर, जन्म, देहान्तर प्राप्ति) अर्थात् पुण्य कर्म से उत्तम जन्म और पाप कर्म से निकृष्ट जन्म मिलता है। इस प्रकार कृमि, कीट, मत्स्य, पिपीलिका, मण्डूक, पतंग, मधुमक्खी आदि (तथा स्थावर वृक्षादि) रूप में तथा मानव रूप में जन्म लेकर जीव इस सृष्टि में अपना 'अच्छा-बुरा' व्यापार करता है।

मनुष्य जन्म में वह युक्ति और ज्ञानसहित पुरुषार्थ करके अनुकूल (=शुभ) तथा अज्ञानपूर्वक आचरण से प्रतिकूल (=अशुभ) परिस्थिति बनाता है। इस प्रकार अपना जीवन चक्र चलाते हुए वह अपने पिछले कर्मों का फल भोगता और आगे के लिये नये कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक करता है और पापपुण्य से सुखदुःख उठाता है। परन्तु उसका चरमलक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्ति है। जब तक वह पाप+दुःख से छूट नहीं जाता अर्थात् ज्ञानपूर्वक अभ्यास वैराग्य द्वारा उसका पाप मोचन हो उसका दुःख संकट कट नहीं जाता, तब तक उसे अपने पुण्यों का फलस्वरूप उत्तम सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जीव को पाप-कर्म औप पाप वासना (तथा पापेच्छा, पापकामना) दोनों में मुक्त होना चाहिये; तभी दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होगी।

ऊपर वर्णित 'आर्य सिद्धान्त' उसे इस दशा में ले जाने के सर्वोत्तम साधन हैं। पञ्चमहायज्ञ, षोडश संस्कार और वर्णाश्रमव्यवस्था ऐसी पद्धतियाँ हैं, जिनसे मनुष्य के मन में पापेच्छा उठती नहीं और उसकी पापकर्म में प्रवृत्ति घटती जाती है। इस प्रकार निवृत्ति' होने से उसकी पापवासना का क्षय होता जाता है और अपनी शारीरिक, मानसिक उन्नति कर लेता है। पापकर्म न रहने से उसके दुःख समाप्त होते जाते हैं और प्रारब्ध से नियत दुःखों का अन्त हो जाता है। उसके कर्म पुण्यात्मक हो जाने से, आगामी जीवन के लिये सुख का मार्ग खुल जाता है।

———

२. दुःख और पाप

त्रिविध दुःख—(१) शरीर और मन सम्बन्धी (आधि-व्याधि) दुःख *आध्यात्मिक* हैं; जैसे ज्वर, शिरोवेदना, अतिसार, अर्धांग आदि शारीरिक, और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अधैर्य, चिंता आदि मानसिक (२) दूसरे प्राणियों से होने वाले सभी दुःख *आधिभौतिक* हैं; जैसे सांप का काटना, शत्रु का आक्रमण, टिड्डी दल का आक्रमण, मूषक मार्जार कृत, चोरी हो जाना, किसी का झूठा मुकदमा चलाना, अपवाद लगाना आदि आदि। (३) अतिवृष्टि, भूकम्प, अग्नि भय, अति ताप, अति शीत, अकाल, विद्युत्पात आदि *आधिदैविक*। इन्हीं को तापत्रय या दुःखत्रय भी शास्त्रों में कहते हैं। इन सब दुःखों का कारण अविद्या होती है।

दशधा पाप—मनुष्य शरीर, वाणी और मन से पाप (=दुष्ट कर्म) करता है। हिंसा (प्राणघात) चोरी और व्यभिचार (परस्त्रीगमन; परपुरुषगमन) ये *तीनों कायिक* (शारीरिक) पाप हैं। असत्प्रलाप (असम्बद्ध भाषण; झूठी बकवास) कटु भाषण (व्यंग्य गालीगलौज) चुगली करना और असत्यभाषण ये *चारों वाचिक* पाप हैं। परधन की अभीप्सा दूसरे से द्वेष करना; नास्तिकता (कर्मफल का न मानना) ये तीनों *मानसिक* पाप हैं। इस प्रकार दशधा पाप की प्रवृत्ति होती है।

जीव जब निर्हेतुक भाव (निष्काम भाव या केवल कर्तव्य बुद्धि से) पुण्यकर्म करते-करते आत्मज्ञानयुक्त उच्चतम अवस्था (तद्धाम परमं पदम्) तक पहुंच जाता है; तब वह मुक्त (द्वन्द्वातीत, निस्त्रैगुण्य, दुःख-निवृत्त, पापरहित) हो जाता है। उस समय वह भौतिकशरीर रहित दशा में (ज्ञान आनन्दपूर्वक) स्वतन्त्र विचरता हुआ, नियत समय परान्तकाल तक ईश्वर के आनन्द में ही मग्न रहता है। उस समय तक उसे लवलेश भी दुःखकणिका नहीं चुभती।

मुक्ति में जीव परमेश्वर में लीन (एक नहीं) हो जाता है, परन्तु वह जीव अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान रह ब्रह्म से पृथक् रहता हुआ विज्ञान आनन्द पूर्वक उसमें स्वतन्त्रता से सुख ही सुख भोगता है वह अपनी सत्ता खो नहीं बैठता। जीव के नाश को मुक्ति समझना अशुद्ध है।

नियत समय पर्यन्त इस मुक्ति सुख को भोग, जब मुक्ति की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहां से छूटकर पुनः मातापिता के सम्बन्ध से साधारण मनुष्यों

का शरीर धारण कर संसार में आता है। इस शरीर में यदि वह पुनः निर्हेतुक पुण्यकर्म करता है; तो फिर मुक्त हो जाता है। और यदि सहेतुक 'पाप कर्म' करता है तो नीचे की योनियों में चक्र आरम्भ हो जाता है।

---

३. मुक्ति के साधन

इस जन्म-मरण के बन्धन से छूट मुक्त (पूर्णरूप से स्वतन्त्र होने का तथा परमानन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय सदाचार पूर्ण, यमनियमादियुक्त, योगाभ्यास तथा ईश्वर क स्तुति प्रार्थनोपासना है। इसके लिए अनिवार्य रूप में व्यक्ति विशेष को गुरु पैगम्बर अथवा देवपुत्र मानकर उसकी पुजा और किसी पुस्तक विशेष में विश्वास करना अनावश्यक और निरर्थक है।

१. आर्य, आर्यसमाज, आर्यसमाजी

ऋषि दयानन्द ने वेदों के आधार पर जिस 'आर्य-दर्शन' का मानव जाति के अभ्युदय-निःश्रेयस के लिये अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, जो सर्वोदयी 'आर्य सिद्धान्त संग्रह' किया है, संक्षेप में उसकी रूपरेखा का वर्णन किया गया है।

'आर्य सिद्धान्त' वेद धर्म के विस्तृत रूप (व्यावहारिकरूप) के अतिरिक्त कुछ नहीं। उनको मानने वाले 'आर्य' हैं। ऐसे आर्य जब संगठित हो कर उसका प्रचार करने का संगठित प्रयत्न करते हैं, तो उस संगठन का नाम 'आर्यसमाज' होता है। परन्तु जो भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों को अपने 'जीवन का दर्शन' और वैदिक धर्म को अपने 'जीवन का आदर्श' मानता है, वह आर्य है। उसके लिए भी मुक्ति का द्वार खुला हुआ है।

परन्तु ज्यों ही वह इनको अपने में चरितार्थ कर अर्थात् स्वयं आर्य बनकर अन्यों को आर्य बनाने का प्रयत्न करने के लिए आर्यसमाज का सदस्य बन जाता है; उसका नाम 'आर्य समाजी'* हो जाता है। और –

आर्यसमाज के सदस्य बनने के लिये आर्यसमाज के दस नियमों; महर्षि दयानन्द के स्वमन्तव्यामन्तव्य में वर्णित ५२ सिद्धान्तों तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला के मन्तव्यों में विश्वास और वेदों में वर्णित महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए तदनुकूल आचरण आवश्यक हैं। आर्य समाज को अपने आय का शतांश भी देना चाहिये।

---

२. आर्यसमाज के नियम

१ -- सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

* आर्यसमाज के नियम-उपनियमों में इसकी 'आर्य सभासद' संज्ञा है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद, सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४ सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

ये दस नियम ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित, विश्व में शान्ति के सन्देश वाहक और धर्म के अग्रदूत आर्यसमाज के सिद्धान्तों का मूल संग्रह हैं। जैसे दस इन्द्रियों से शरीर चलता है, वैसे ही ये भी आर्यसमाज की दश इन्द्रियाँ हैं। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'दशकं धर्मलक्षणम्' हैं। और शान्ति के घोषणापत्र की ये आधारभूत शिलायें हैं। ये वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर ही निश्चित किये गये हैं। इसलिये आर्य वेदान्त के जिज्ञासु, आर्यधर्म और आर्यसंस्कृति के भक्त-जन, इन नियमों के गम्भीर अनुशीलन से मानवजीवन को ऊँचा उठाने वाले उन सत्य आदर्शों का सम्यग ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और मानवता के धर्म का वास्तविक मर्म पहिचान सकते हैं; जिनसे अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग साफ हो जाता है तथा इहलोक एवं परलोक सुधरते हैं।

उस ऋषि की चर्मचक्षु के सामने भारतवर्ष की दुर्दशा और नाना रूपों वाली पराधीनता थी। परन्तु, उसके मानसचक्षु उस दिव्यदृष्टि से अलोकित थे, जिनसे विश्वरूप संन्दर्शन होता है। इसलिये उसने जो कुछ सोचा, जो कुछ लिखा, जो कुछ कहा और जो कुछ किया, वह समस्त विश्व के हित की भावना से ही था। इस पर आचरण करने से सबका उद्धार हो सकता है। उसके द्वारा निर्धारित धर्म ऐसा है, जो सर्वोदय कर सकता है; अशान्त लुब्ध संत्रस्त संतप्त विश्व को शान्ति दे सकता है। मतमतान्तरों के झगड़े और अर्थकाम में आसक्ति के कारण स्वार्थ की वृद्धि, ये दो कारण हैं, जिनसे सर्वत्र असन्तोष और परस्पर अविश्वास फैलता है। ऋषि ने कहा इसके निवारण के लिये मनुष्यता को छोड़ 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। मनुष्यता क्या है, धर्मानुकूल आचरण, परहित के लिये स्वहितत्याग और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति की समझ, व्यक्ति की पूजा का त्याग और सब भूतों में महान् आत्मा के सूत्र का ग्रहण, मतमतान्तरों में आग्रहबुद्धि का पूर्ण परित्याग, और सदा सत्यग्रहण एवं असत्यत्याग में निस्संकुचित तत्परता। इन्ही के संग्रह रूप में ऋषि ने दशसूत्रों में सब कुछ कह दिया है।

यदि सब मनुष्य 'सब सत्यविद्या' का आदि प्रेरक परमेश्वर को मानलें, तो व्यक्तियों के नाम पर चले मतसिद्धान्त सम्प्रदाय मिट जावें और धर्म का प्रचार हो। ऐसे ही, 'जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उनका आदिमूल परमेश्वर को समझें; तो निरभिमान हों उदार बनें। (प्रथम नियम)

यह तभी हो सकता है, यदि मनुष्य उस आदिमूल परमेश्वर के सत्स्वरूप को जान लें और यह समझ लें कि 'उसी की उपासना करनी योग्य है' (द्वितीय नियम) व्यक्तियों की पूजा करना, अज्ञान और मतमतान्तर के झगड़े खड़ा करना है।

ऐसी स्थिति में आने के लिये ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जो सर्वकाल-सर्वावस्थायु एक सा हो। 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। 'वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।' (तृतीय नियम) यदि सब इनकी शिक्षाओं के अनुसार आचरण करें, तो 'मतमतान्तरों के झगड़े' और 'अर्थकाम से आसक्ति के कारण बढ़ी स्वार्थ बुद्धि' दोनों पनपने न पावें।

यदि सब मनुष्य, सब देशों के नेता, 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहें' तो फिर मतमतान्तरों के झगड़े बुराई पैदा ही कैसे हो? परस्पर अविश्वास क्योंकर हो? जब अविश्वास नहीं, तो सबको जीवन का भरोसा मिले और सबके प्रति सब अनुरक्त रहें (चतुर्थ नियम)।

फिर 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर' (पांचवां नियम) ही हों। जब ऐसा हो गया, तो पोलिटिकल-पार्टी बाजी अर्थात् दलबन्दी समाप्त। जो भी व्यक्ति शासन सभाओं में जावेंगे, उनका टेस्ट उनका 'सत्य और असत्यमय' आचरण होगा। यदि वह 'असत्यमय' ज्ञात होगा तो 'उसके छोड़ने में तत्पर' रहेंगे। परिणामतः विश्व के सभी नेता आप्त धार्मिक, सत्यदर्शी, सत्यमानी सत्यवादी सच्चरित्र परोपकारी होंगे। जब सर्वत्र सत्यवादियों का शासन और मान होगा, तो मतमतान्तर कहाँ रहेंगे ?

तब सबका मुख्य उद्देश्य अपने पार्टी हित से हटकर 'संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना' होगा (षष्ठ नियम) जहाँ भी, जैसा भी, जिसे भी कष्ट होगा, सब उसे मिलकर निवारण करने में लग जावेंगे। रुपये मदद के लिये भेजे जावेंगे; पर बायें हाथ को मालूम न होगा। अनाज अकालग्रस्त स्थानों पर भेजा जावेगा; परन्तु उसकी वसूली की शर्तों का निश्चय तो क्या उसका विचार भी मन में नहीं उठेगा। और

'सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य' बर्तने के (सप्तम नियम) के भावों का विकास होगा। मनुष्य, मनुष्य से प्रीति करेगा, अच्छे बुरे को समझ यथायोग्य धर्मानुगामी बनेगा। दुनियाँ की राजनीति से अन्याय अधर्म नष्ट होगा। राष्ट्रों के विश्वसंघ में सबसे 'यथायोग्य' प्रतिनिधियों को बिना शर्त्त समान प्रतिनिधित्व मिलेगा।

इतनी ही तो गलतफहमी है, ना समझी है, अविद्या है।—'इस अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये' (अष्टम नियम)। पार्टी बाजी और मतमतान्तर अविद्या के कारण हैं; मनुष्य का अर्थकाम में आसक्त होना अविद्या मूलक ही है। जब अविद्या अन्धकार मिट जावेगा, तो सब कहेंगे, भाई ! देखो प्रत्येक को अपनी उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।' (नवम नियम

ऐसा सदाचार नियम हो जाने पर, सबकी शिक्षादीक्षा इस नीति पर होने से, सब देश दूसरे पड़ौसी—देशों का ख्याल करेंगे। शोषण बन्द हो जावेगा, आर्थिक या सामूद्रिक-नाकेबन्दी 'मनुष्यों के इतिहास' के पृष्ठों तक ही सीमित रहेगी और विश्व इतिहास की वे अन्याय अत्याचार की लाल रेखायें मिटती सी नजर आवेंगी। आंख दिखाई नहीं जावेगी, तो—फोड़ेगा कौन ?

अगर ऐसी स्थिति को निरन्तर स्थिर रखना है, तो 'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।' (दशम नियम) सबको ऐसी ट्रेनिंग देनी पड़ेगी।

यही मनुष्यता का अमर सन्देश है जिसे सृष्टि के आदि में भगवान् ने चार ऋषियों को दिया था; जिसे मनु महाराज ने क्रम बद्ध किया था और जिसे एक बार फिर वर्तमानयुग में इस सुचेता सुक्रतु ऋषि दयानन्द ने संसार को देने के लिए, इन दश-*नियमों* के रूप में आविर्भूत किया है।

इन नियमों को मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य हो सकता है।

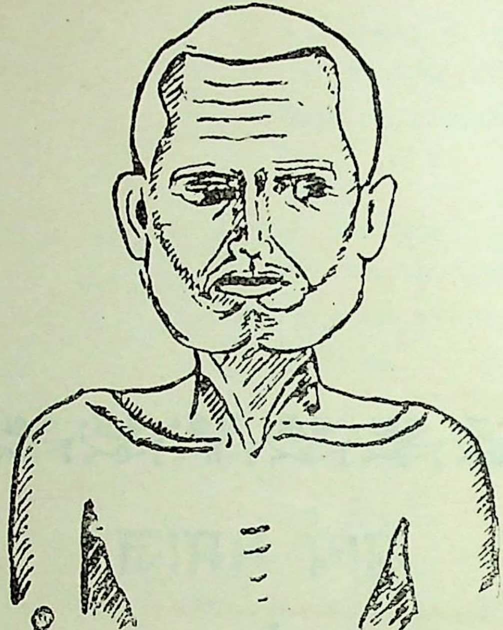
'आर्यसिद्धान्त' किसी व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क की उपज नहीं; इसीलिये ये 'मत' रिलिजन नहीं। ये तो वेदधर्म रूप पुष्प की क्रमबद्ध पंखुड़ियाँ हैं, जिनकी सुमधुरवास से पाप और दुःख की दुर्गन्ध कट जाती है। यदि इहलोक में सर्वविध सुख और परलोक में परमानन्द की प्राप्ति करनी है, तो हे ईश्वरपुत्र! क्रतो! तू,

ओ३म् शरणं गच्छ!
सत्यं शरणं गच्छ!!
धर्मं शरणं गच्छ!!!

और गुरु दयानन्द के चरणों में नमस्कार करके, परमगुरु ईश्वर का श्रद्धा-भक्ति प्रेम से अपने आत्मा में ध्यान करके यह शिवसंकल्प धार:

ओ३म् शरणं गच्छामि!
सत्यं शरणं गच्छामि!!
धर्मं शरणं गच्छामि!!!

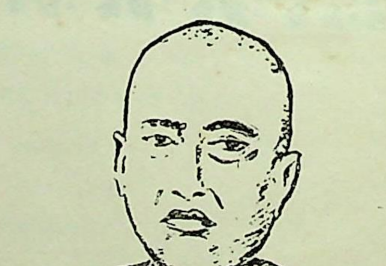
आर्य समाज
के
नेता, विद्वान् और विचारक



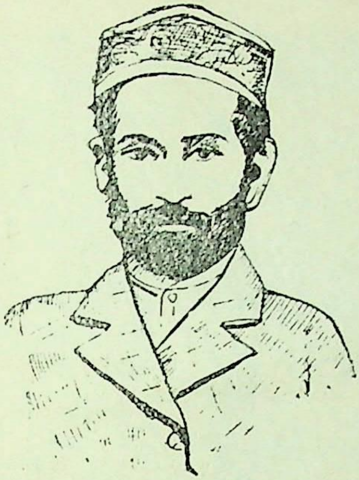
गुरुवर्य स्वामी विरजानन्द जी सरस्वती



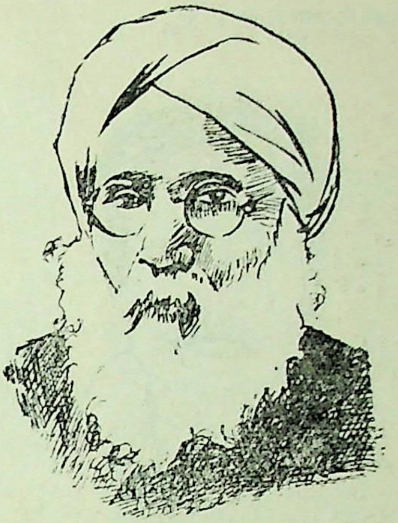
ला० सांईदास जी



स्वामी दर्शनानन्द जी



पं० गुरुदत्त जी एम. ए.



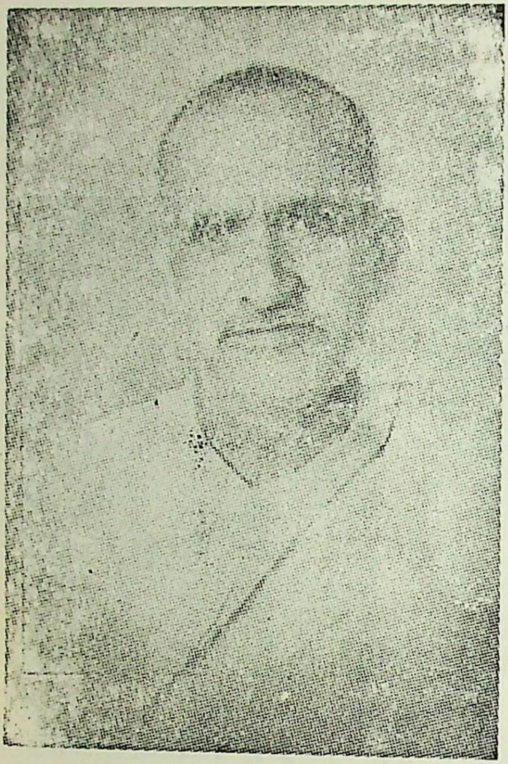
महात्मा हंसराज जी



स्व० आचार्य रामदेव जी



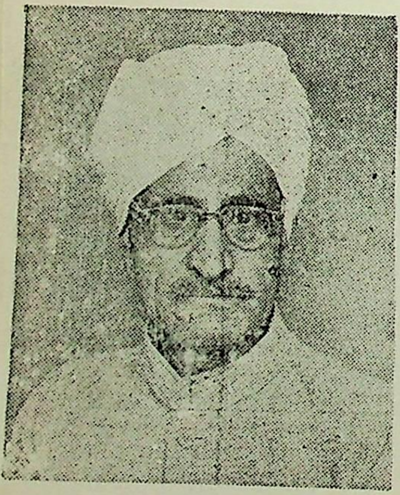
महात्मा नारायण स्वामी जी



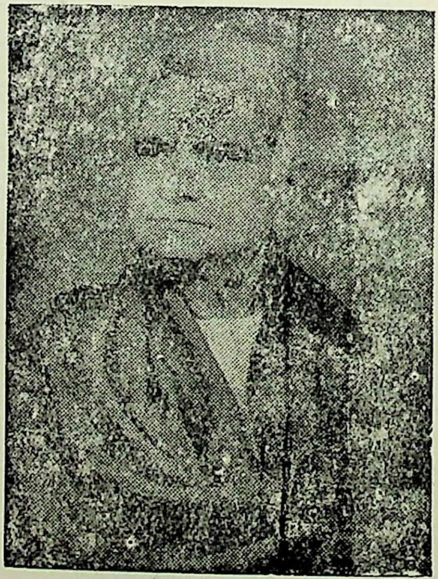
स्वामी सत्यमुनि जी



पं० केशवदेव जी शास्त्री



पं० जगदेव सिंह 'सिद्धान्ती'

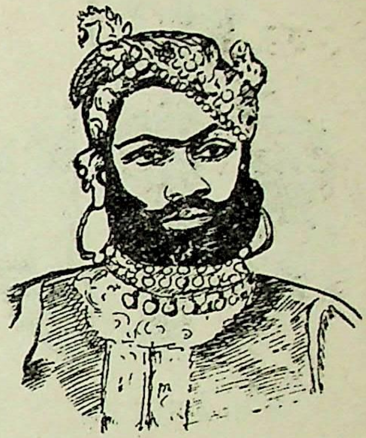


पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार

महर्षि दयानन्द के चार भक्त-नरेश



शाहपुराधीश नाहरसिंह जी



उदयपुर नरेश सज्जन सिंह जी



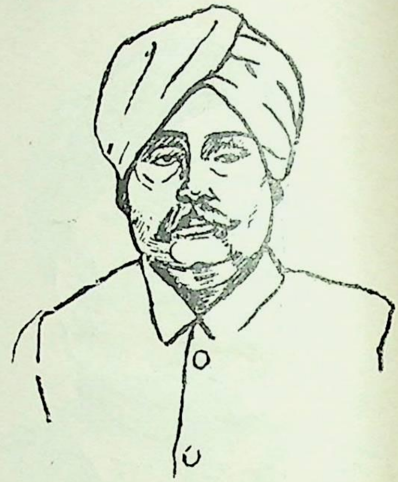
कोल्हापुर नरेश



महाराजा प्रतापसिंह जी



लाला देवराज जी



लाला लाजपतराय जी



पं० पूर्णानन्द जी



ला० नारायणदत्त जी ठेकेदार



श्री ईश्वरदत्त जी विद्यालंकार



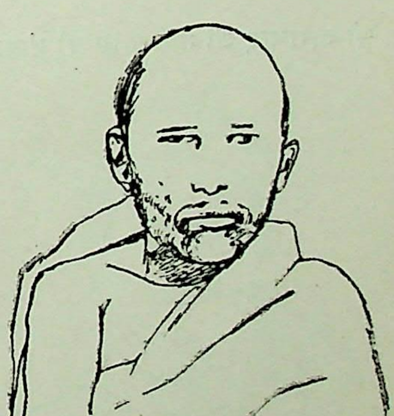
स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी

★ ★



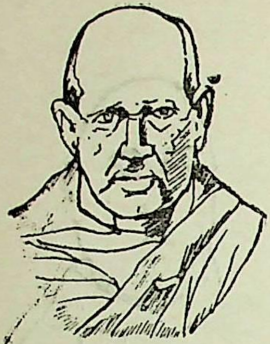
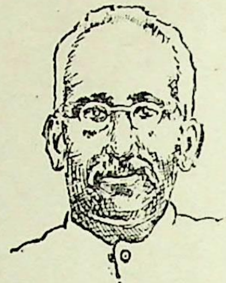
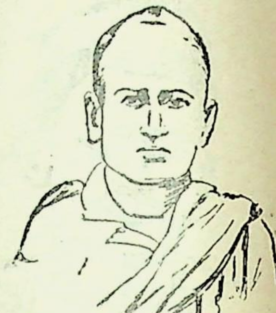
श्री पं० ~~काशीनाथ~~ जी शास्त्री

स्वामी सत्यानन्द



स्वामी ~~सत्यानन्द~~ जी

श्री काशीनाथ जी

पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ❀ पं० तुलसीराम स्वामी ❀ स्वामी मुनीश्वरानन्द जी

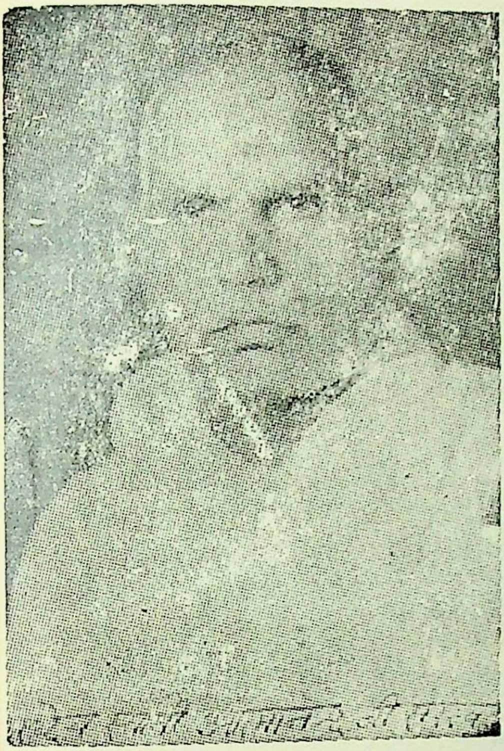




श्री ताराचन्द जी गाजरा ❀ श्री गंगाप्रसाद जी एम. ए. ❀ मास्टर आत्माराम जी




श्री मदनमोहन जी सेठ ❀ श्री पद्म सिंह शर्मा





कविवर नाथूराम शंकर

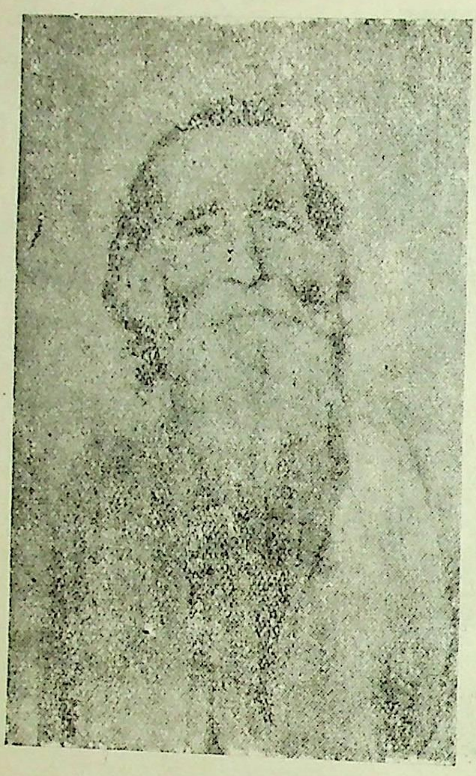
स्वामी आत्मानन्द जी



महाशय कृष्ण जी



चांदकरण शारदा



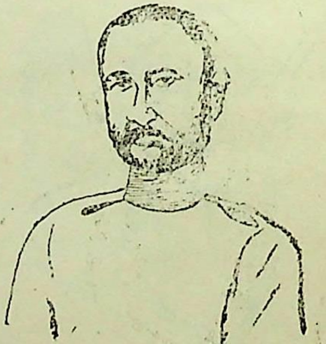
महात्मा आनन्द भिक्षु जी



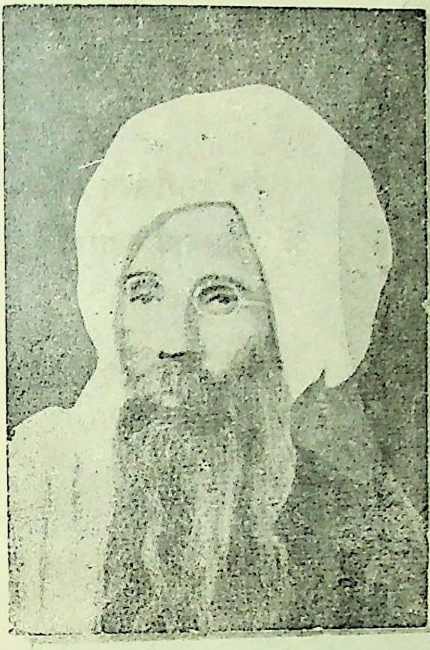
श्री चिरञ्जीव भारद्वाज



श्री घासीराम जी एम. ए.



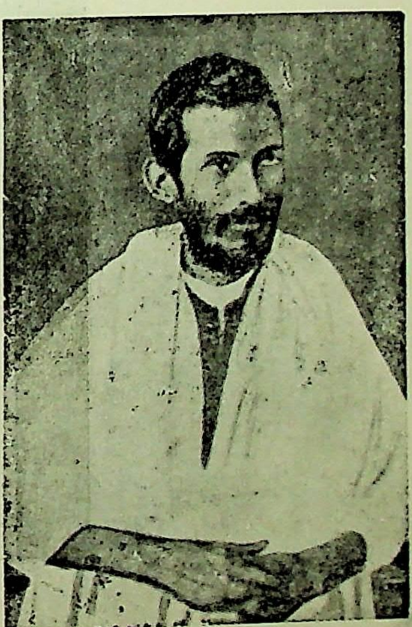
भाई परमानन्द जी



★

पं० आर्यमुनि जी

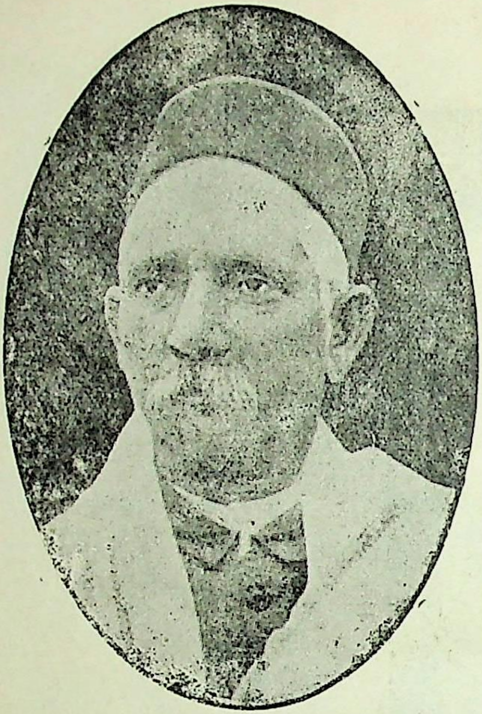
★



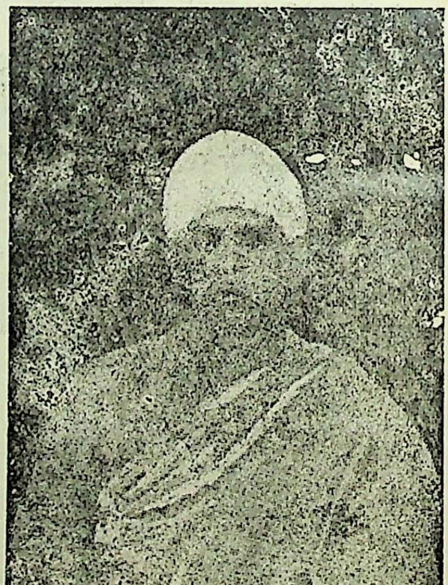
★

पं० गणपति शर्मा

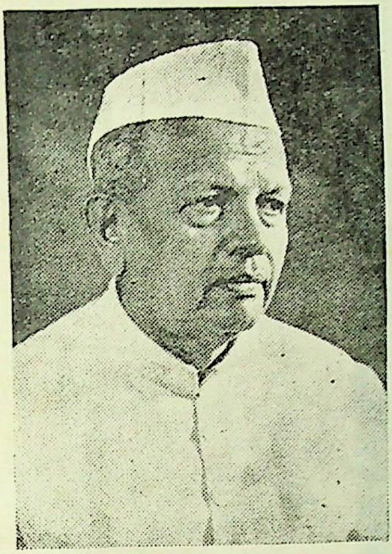
★



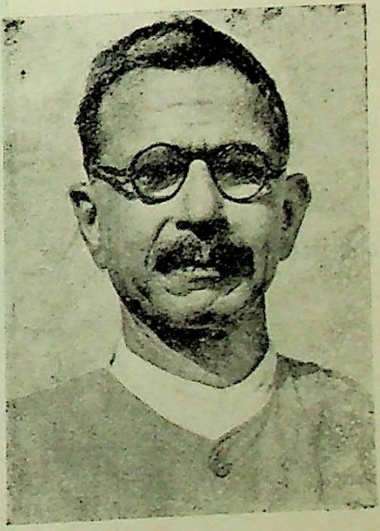
पं० मुरारीलाल जी
शास्त्रार्थ महारथी



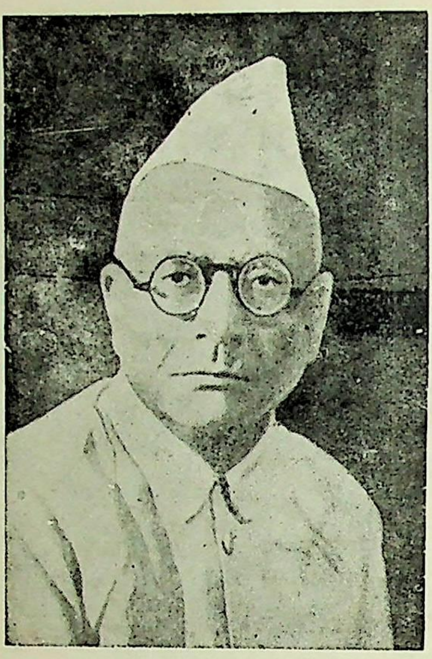
स्वा० केवलानन्द जी



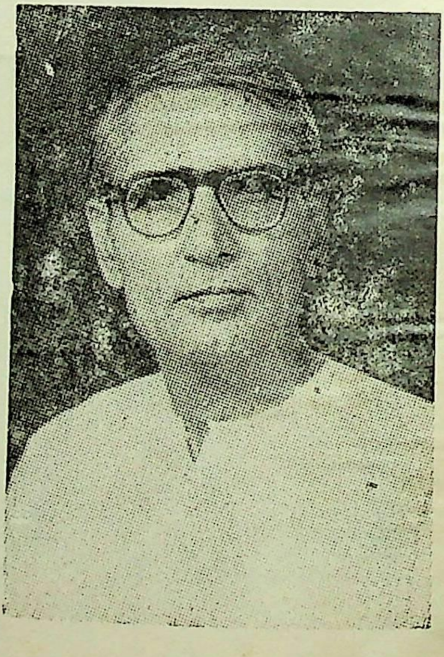
श्री विनायकराव जी विद्यालंकार



पं० भीमसेन जी विद्यालंकार



पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय



पं० सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार